दयानन्द सरस्वती

आत्म कथा

आत्म-कथा

दयानन्दसरस्वती

महर्षि दयानन्द-निर्वाण-शताब्दी संस्करण

प्रकाशक :
वैदिक पुस्तकालय
दयानन्द आश्रम, केसरगंज
अजमेर

आत्मकथा : महर्षि दयानन्द

मूल्य : पांच रुपये

संस्करण : सम्वत् २०४० वि., सन् १९८३ ई०

प्रकाशक : वैदिक पुस्तकालय, केसरगंज, अजमेर

मुद्रक : वैदिक यंत्रालय, केसरगंज, अजमेर



युगप्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती

जन्म :
संवत् १८८१ वि०
सन् १८२४ ई०

निर्वाण :
संवत् १९४० वि०
सन् १८८३ ई०

ऋषि दयानन्द की आत्मकथा : ऐतिहासिक विवरण

☐ डॉ० भवानीलाल भारतीय

भारतीय धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के सूत्रधार स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने युग के अद्वितीय महापुरुष थे। उनके विचारों का प्रभाव उनके जीवन काल में केवल स्वदेश तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु इंगलैण्ड, जर्मनी तथा अमेरिका तक उनकी ख्याति का प्रसार हुआ। ऐसे युग-प्रवर्तक महापुरुष का जीवन निश्चय ही समग्र मानव जाति के लिये प्रेरणादायी सिद्ध हो सकता है, यह अनुभव कर स्वामी जी के जीवन-काल में ही उनके जीवन-वृत्त को लेखबद्ध करने का प्रयास किया गया था। स्वामी जी ने स्वयं भी अपने एक व्याख्यान में आत्मकथन के रूप में स्व-जीवन-वृत्त की कुछ चर्चा की थी। चैत्र शुक्ला पञ्चमी १९३२ वि० तदनुसार १० अप्रैल १८७५ ई० को बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना, करने के पश्चात् वे पूना गये। यहाँ न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे तथा अन्य महाराष्ट्रीय भक्तों के आग्रह पर उन्होंने बुधवार पैठ के भिड़े के बाड़े में एक व्याख्यान-माला प्रस्तुत की। इस व्याख्यान-क्रम की अन्तिम वक्तृता ४ अगस्त १९७५ को हुई जिसमें श्री महाराज ने अपने जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया। कालान्तर में उपदेशमञ्जरी या पूना प्रवचन के नाम से जब स्वामी जी के ये १५ भाषण मराठी से हिन्दी भाषा में अनूदित होकर प्रकाशित हुये[२] तो काशी शास्त्रार्थ (१६ नवम्बर १८६९ ई०) तक का प्रामाणिक जीवन-वृत्त स्वयं स्वामी जी के श्रीमुख से कथन किया हुआ ही, संसार को उपलब्ध हो गया।

आत्म-कथन प्रस्तुत करने का एक अन्य अवसर उन्हें तब मिला जब थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रवर्तकों में से एक कर्नल एच० एस० आल्काट ने अप्रैल १८७९ ई० में स्वामी जी से अपना आत्मकथन लेख-बद्ध कर थियोसोफिस्ट पत्र में प्रकाशनार्थ भेजने का आग्रह किया। कर्नल के इस अनुरोध को स्वीकार कर स्वामी जी ने अपने नर्मदा-तट भ्रमण तक का वृत्तान्त तीन किस्तों में लिख कर थियोसोफिस्ट में प्रकाशनार्थ भेजा। मैडम एच० पी० ब्लैवेट्स्की इस पत्र की सम्पादिका थीं। अतः उन्हीं के द्वारा सम्पादित होकर यह आत्मकथन अंग्रेजी अनुवाद के रूप में थियोसोफिस्ट के तीन अंकों में प्रकाशित हुआ। पण्डित लेखरामजी के अनुसार यह सामग्री उक्त पत्र के नवम्बर व दिसम्बर १८८० के अंकों में छपी थी, परन्तु पण्डित भगवद्दत्त जी ने थियोसोफिस्ट के मूल अंकों को देखकर यह निश्चय किया कि यह आत्म-वृत्तान्त

---

१. प्राचीन उपलब्ध प्रमाणों से आर्यसमाज की स्थापना तिथि पञ्चमी ही सिद्ध होती है।
२. हिन्दी अनुवाद पं० गणेश रामचन्द्र तथा महाशय श्री निवासराव ने पं० लेखराम की प्रेरणा से किया।

अक्टूबर १८७९, दिसम्बर १८७९ तथा नवम्बर १८८० के अंकों में प्रकाशित हुआ है।[१] इन अंकों में स्वामी जी का यह आत्मकथन निम्न प्रकार से छपा[२]—अक्टूबर १८७९ जन्म से लेकर ऋषिकेश यात्रा पर्यन्त (१९११ वि०) पृ० ९ से १२, दिसम्बर १८७९ टिहरी से लेकर जोशी मठ यात्रा पर्यन्त (१९१२ वि०) पृ० ६६, से ६८, नवम्बर १८८० बद्रीनारायण से नर्मदा-तट पर्यन्त (१९१६ वि०) पृ० २४ से २६।

जिस समय स्वामीजी ने आत्म-वृत्तान्त को प्रकाशन के लिये थियोसोफिस्ट में भेजा उसी समय उसकी दो प्रतिलिपियां दो आर्य पुरुषों ने करली थीं। एक प्रतिलिपि श्री मथुराप्रसाद जी मंत्री आर्यसमाज अजमेर[३] तथा दूसरी पंडित छगनलाल श्रीमाली भूतपूर्व कामदार मसूदा (जिला अजमेर) के पास थी। जब श्री महाराज की जीवनी के तथ्यों का संग्रह करते हुये पंडित लेखराम अजमेर आये थे तब उन्होंने उक्त दोनों प्रतियों को देखा था तथा उन्हीं के आधार पर स्वसंगृहीत महर्षि दयानन्द के उर्दू जीवन-चरित में इस सामग्री को स्थान दिया था।[४] थियोसोफिस्ट के इन लेखों को विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं ने उद्धृत किया।[५] फर्रुखाबाद से प्रकाशित होने वाले भारत-सुदशाप्रवर्तक (अंक संख्या ६, ७, ८) आर्यसमाचार मेरठ, आर्य अखबार बम्बई, रीजेनेरेटर दि आर्यावर्त लाहौर, पताका अखबार कलकत्ता आदि ने इस सामग्री को प्रकाशित किया। भारतसुदशाप्रवर्तक में प्रकाशित यह आत्म-वृत्तान्त 'श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की कुछ दिन-चर्या' के शीर्षक से पुस्तकाकार भी छपा। इसका सम्पादन पं० गणेशप्रसाद शर्मा ने किया था।

थियोसोफिस्ट की सामग्री को मास्टर दुर्गाप्रसाद ने अपने सत्यार्थप्रकाश के अंग्रेजी अनुवाद के प्रारम्भ में भी प्रकाशित किया। सत्यार्थ-प्रकाश का यह आंग्लभाषा-नुवाद १९०८ ई० में प्रकाशित हुआ था तथा इस आत्मवृत्तान्त को मास्टर जी ने The Autobiography and Travels of Swami Dayanand Saraswati शीर्षक से उद्धृत किया। थिसोसोफिकल प्रकाशन गृह अड्यार मद्रास ने Autobiography of Pandit Dayanand Sarasvati शीर्षक से इस आत्मकथा को १९५२ में प्रकाशित किया। इसके प्रकाशकीय वक्तव्य में लिखा गया है कि पण्डित दयानन्द सरस्वती की यह आत्मकथा

१. पंडित महेशप्रसाद मौलवी आलिम फाजिल ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है। द्रष्टव्य-महर्षि जीवन दर्शक पृ० ३।

२. थियोसोफिस्ट के ये अंक काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में हैं।

३. श्री मथुराप्रसाद भहड़ (माहेश्वरी) अजमेर की धर्मशीला आर्य महिला श्रीमती गुलाबदेवी (चाचीजी) के पति थे।

४. यह उर्दू जीवन-चरित १८९७ ई० में मुन्शी गुलाबसिंह के प्रेस में लाहौर से छपा।

५. श्री रतनचन्द बेरी द्वारा सम्पादित तथा लाहौर से प्रकाशित 'दि आर्य' नामक मासिक पत्र के जुलाई १८८२ के अंक में The Autobiography of Swami Dayanand शीर्षक से थियोसोफिस्ट में प्रकाशित इतिवृत्त का प्रारम्भिक भाग (विवाह की तैयारियाँ तक) उद्धृत किया गया है।

एक मात्र थियोसोफिस्ट पत्र के लिये ही उनके द्वारा लिखी गई थी जिसका सम्पादन उस समय एच० पी० ब्लैवेट्स्की करती थी तथा यह आत्मवृत्तान्त हिन्दी से अनूदित किया गया है।"[1] इस पुस्तक में श्री महाराज का जो इतिवृत्त दिया गया है वह जोशी मठ भ्रमण पर्यन्त ही है, इससे यह विदित होता है कि मद्रास संस्करण में मूल थियोसोफिस्ट में प्रकाशित इतिवृत्त की दो किस्तें ही समाविष्ट हो सकीं और नर्मदा तटवर्ती प्रांत भ्रमण तक का वृत्तान्त जो नवम्बर १८८० के अंक में छपा था इसमें समाविष्ट नहीं हो सका। परन्तु इस ग्रन्थ में स्वामी जी से सम्बन्धित कुछ अन्य सामग्री प्रकाशित हुई जिसका जीवनीकारों के लिये विशिष्ट उपयोग है।[2]

पंडित भगवद्दत्त जी ने स्वामी जी के स्वकथित (पूना प्रवचन में) तथा स्वलिखित (थियोसोफिस्ट में) आत्म-वृत्तान्त का एक स्वसम्पादित सुन्दर संशोधित संस्करण श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित किया। अब तक इसके सात संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम संस्करण कब छपा यह ज्ञात नहीं होता क्योंकि इस संस्करण की भूमिका के अन्त में सम्पादक ने तिथि का उल्लेख तो १५ चैत्र दयानन्दाब्द लिख कर किया परन्तु वर्ष का उल्लेख नहीं है। द्वितीय संस्करण २० आषाढ़ दयानन्दाब्द ३४ (१९१७ ई०) को प्रकाशित हुआ। तृतीय संस्करण की भूमिका में पण्डित भगवद्दत्तजी ने आत्मकथन के एक अन्य हस्तलेख का उल्लेख किया है। पण्डितजी के अनुसार स्वामी श्रद्धानन्द जी के पास आत्मकथन की मूल प्रतिलिपि थी। संन्यास-ग्रहण के समय स्वामी जी ने इसे प्रो० रामदेवजी को सौंप दिया। १९७४ वि० के गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव पर प्रो० रामदेव जी के सौजन्य से यह हस्तलेख पण्डित भगवद्दत्तजी को प्राप्त हुआ। इसमें हाथी छाप के ६ पृष्ठ थे। प्रथम पांच पृष्ठों में प्रत्येक पर सत्ताइस पंक्तियाँ थी। अन्तिम पृष्ठ पर चौदह पंक्तियाँ थीं। पण्डित भगवद्दत्त जी इस बात का निर्धारण नहीं कर सके कि हस्तलेख का लेखक कौन है? उनके अनुसार "लेख बड़ा स्पष्ट है और प्रायः अक्षर श्री स्वामी जी के अक्षरों से मिलते हैं। यद्यपि लेख उनका नहीं है, पर पूर्ण निश्चय नहीं हो सका कि लेखक कौन है? कारण कि ऋषि के दो लेखकों के प्रायः अक्षर उनके अक्षरों में मिलते हैं।"

---

१. "This autobiograyhy of Pandit Dayanand Saraswati was written by him expressly for the Theosophist, then by H. P. Blavatsky; translated from Hindi."

२. आत्म-कथन के अतिरिक्त इस पुस्तक में (१) The Pupil of Swami Dayanand at the Congress of Orientalists (२) An "Honest" Enquiry into the aims of our Society. (३) Gleanings from the works of Svami Dayanand Sarasvati. By IL PENSEROSO. (४) Swami Dayanand Sarasvati and the Pandits of Lahore. (५) Is idolatry taught in the Yajurveda ? शीर्षक ५ अन्य परिशिष्ट सामग्री छपी है। विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य—वेद वाणी में प्रकाशित मेरा लेख 'ऋषि दयानन्द की आत्मकथा—एक ऐतिहासिक विश्लेषण' मई १९६९ ई०।

प्रस्तुत संस्करण—परोपकारिणी के पुराने कागजों में वैदिकयन्त्रालय के (स्वामी जी के समकालीन) प्रबन्धकर्ता मुन्शी समर्थदान के बस्तों में स्वामीजी के आत्मवृत्तान्त की मूल पाण्डुलिपि दो किस्तों के प्राप्त हुई। यह वही पाण्डुलिपि है जो श्री महाराज ने थियोसोफिस्ट में प्रकाशनार्थ भेजी थी। तीसरी किस्त अनुपलब्ध है, परन्तु प्रस्तुत संस्करण में उसे पण्डित भगवद्दत्त जी के संस्करण के आधार पर उद्धत किया जा रहा है। इसी पाण्डुलिपि के ६ पृष्ठ पण्डित भगवद्दत्त जी ने देखे होंगे क्योंकि यह हाथी छाप कागज पर लिखी गई है तथा प्रथम पांच पृष्ठों में प्रत्येक पर २७ पंक्तियां हैं। हमें प्राप्त पाण्डुलिपि के अन्तिम पृष्ठ पर १७ पंक्तियां हैं जब कि पंडित भगवद्दत्त जी द्वारा दृष्ट पाण्डुलिपि के अन्तिम पृष्ठ पर १४ पंक्तियाँ थीं। दोनों किस्तों पर श्री महाराज के हस्ताक्षर हैं तथा प्रथम पर यत्र तत्र उनके द्वारा किया हुआ संशोधन भी है। पाण्डुलिपि की दूसरी किस्त सम्पूर्णतया श्री महाराज की ही लिखी हुई है।

प्रस्तुत संस्करण का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि अब तक स्वामी जी की आत्मकथा के जो संस्करण प्रकाशित हुये हैं वे या तो पंडित लेखराम द्वारा लिखित उर्दू जीवन-चरित से अनूदित होकर प्रकाशित हुये अथवा थियोसोफिस्ट के अंग्रेजी में अनूदित आत्म-वृत्तान्त का पुनः अनुवाद होकर हिन्दी में आये। हमारे इस संस्करण में जोशी मठ तक का वृत्तान्त उस मौलिक सामग्री का अंश है जो स्वयं श्री महाराज के हस्ताक्षरों से प्रमाणित होकर थियोसोफिस्ट में प्रकाशनार्थ भेजी गई थी। अंग्रेजी अनुवाद मद्रास संस्करण (जोशी मठ तक का वृत्त) तथा पण्डित दुर्गाप्रसाद द्वारा उद्धृत सत्यार्थप्रकाश के अनुवाद की भूमिका में प्रकाशित (नर्मदा तट भ्रमण का वृत्त) सामग्री से लिया गया है।

अब हम पाठकों के ज्ञान के लिये स्वामीजी की आत्मकथा के विभिन्न संस्करणों का विवरण प्रस्तुत करते हैं—

हस्तलेखों का विवरण—

(१) मुन्शी समर्थदान के बस्ते में प्राप्त जीवनवृत्त की दो किस्तें। इन्हीं के आधार पर यह संस्करण तैयार किया गया है।

(२) श्री मथुराप्रसाद, मंत्री आर्यसमाज अजमेर की प्रति। इस संस्करण के सम्पादक को श्री मथुराप्रसाद की प्रतिलिपि भी प्राप्त हो गई है। यह प्रति श्री मथुराप्रसाद जी की पत्नी एवं गुलाबदेवी के भतीजे स्वर्गीय केशवदेश कपूरिया के कागजों में उपलब्ध हुई।

(३) पण्डित छगनलाल श्रीमाली की प्रति।

(४) प्रो० रामदेवजी की प्रति (इसकी वर्तमान स्थिति अज्ञात है)

प्रकाशित हिन्दी संस्करण—

(१) श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की कुछ दिनचर्या—जिसको पण्डित गणेशप्रसाद लेखाध्यक्ष आर्यसमाज फर्रुखाबाद ने प्रेमी जनों के आनन्द विनोदार्थ भारतसुदशाप्रवर्त्तक से उद्धृत की। कम्प फतेगढ़ मुन्शीचुन्नीलाल यन्त्रालय में पंडित जगन्नाथप्रसाद के प्रबंध से छापी गई। (इसका द्वितीय संस्करण १८८७ ई० में प्रकाशित हुआ।) एक दुर्लभ प्रति सम्पादक के पुस्तकालय में।

(२) मुन्शी दयाराम तहसीलदार ने पंडित लेखराम रचित स्वामी जी के उर्दू जीवन-चरित में उद्धृत आत्म वृत्तान्त का हिन्दी में अनुवाद कर सर्वप्रथम १९०४ ई० में वजीरचन्द्र शर्मा के आर्य पुस्तकालय लाहौर से प्रकाशित कराया। इसका तृतीय संस्करण १९७९ वि० (जनवरी १९२३ ई० ४० दयानन्दाब्द) में प्रकाशित हुआ।

(३) श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय रचित 'दयानन्द चरित' की अवतरणिका में थियोसोफिस्ट से अनूदित आत्मवृत्त का हिन्दी अनुवाद पंडित घासीरामजी ने किया। भास्कर प्रेस मेरठ से १९१२ ई० में प्रकाशित दयानन्द चरित।

(४) ऋषि दयानन्द सरस्वती स्वरचित (लिखित वा कथित) जन्म चरित्र—पंडित भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित। (श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित)

(५) ऋषि दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा—पंडित जगत्कुमार शास्त्री द्वारा सम्पादित। गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली द्वारा प्रकाशित, दयानन्द ग्रन्थ संग्रह के अन्तर्गत तथा पृथक् रूप से प्रकाशित। (सं० २०१० वि०) इसमें भी पूना के व्याख्यान तथा थियोसोफिस्ट में प्रकाशित लेखों का अनुवाद (पंडित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय लिखित दयानन्द चरित की अवतरणिका का अनुवाद जो पंडित घासीराम द्वारा किया गया) संकलित है। दयानन्द चरित का प्रकाशन गोविन्दराम हासानन्द कलकत्ता ने भी किया था। (तृतीय संस्करण १९४६ ई०)।

(६) महर्षि दयानन्द लिखित आत्मकथा (थियोसोफिस्ट से अनूदित) आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश द्वारा २०१० वि० में प्रकाशित।

प्रकाशित अंग्रेजी संस्करण—

(१) मास्टर दुर्गाप्रसाद ने थियोसोफिस्ट में प्रकाशित सामग्री को A Triumph of Truth or a Short autobiography of the great Rishee Swami Dayanad Saraswati शीर्षक से पृथक् पुस्तक रूप में प्रकाशित किया तथा अपने सत्यार्थप्रकाश के अंग्रेजी में अनुवाद की भूमिका में भी उद्धृत किया।

(२) Autobiography of Pandit Dayanand Sarasvati थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस अड्यार मद्रास से १९५२ ई० में प्रकाशित।

प्रकाशित उर्दू अनुवाद—

(१) पंडित लेखराम रचित (संकलित) 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित' में संगृहीत प्रथम संस्करण १८९७ ई० (हिन्दी अनुवाद पंडित रघुनन्दनसिंह निर्मल कृत तथा आर्यसमाज नयाबांस दिल्ली से २०२८ वि० में प्रकाशित)।

(२) उर्दू अनुवाद श्री दलपतराय विद्यार्थी एम-ए० कृत 'खुद नविशत स्वानेह उमरी' १९४५ वि० में लाहौर से प्रकाशित।

(३) उर्दू अनुवाद भाई जवाहरसिंह कृत 'स्वानेह उमरी दयानन्द'

अन्य भाषाओं में अनुवाद—

(१) पंडित देवेन्द्रनाथ कृत बंगानुवाद—यह १८९४ ई० में प्रकाशित दयानन्द चरित की अवतरणिका में छपा। इसमें पूना प्रवचन तथा थियोसोफिस्ट की पूर्ण सामग्री बंगला में अनूदित की गई।

(२) पंडित देवेन्द्रनाथ लिखित तथा वैदिक मैगजीन के फरवरी १९१६ के अंक में प्रकाशित The birthplace and parentage of Swami Dayanand शीर्षक लेख से विदित होता है कि आत्मवृत्तान्त के बंगानुवाद के आधार पर उसका गुजराती भाषा में भी अनुवाद हुआ था।

(३) स्वर्गीय पंडित कालीचरण शर्मा मौलवी आलिम फाजिल ने 'स्वानेह उमरी आरिफ दयानन्द' शीर्षक से इसका फारसी भाषा में अनुवाद किया।

पुनश्च–मुन्शी इन्द्रमणि के शिष्य जगन्नाथदास ने 'दयानन्द जीवन चरित और समालोचना', शीर्षक पुस्तक में इस सामग्री को समग्रत: उद्धृत कर उस पर अपनी आलोचना लिखी है। प्रकाशन १९७२ वि०। □

मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती संक्षेप से अपना जन्मचरित्र लिखता हूं ॥

संवत् १८८१ के वर्ष में मेरा जन्म दक्षिण गुजरात प्रान्त देश काठियावाड़ का मजोकठा देश मोर्वी का राज्य औदीच्य ब्राह्मण के घर में हुआ था, यहां अपना पिता का निज निवास स्थान के प्रसिद्ध नाम इसलिये मैं नहीं लिखता कि जो माता-पिता आदि जीते हों मेरे पास आवें तो इस सुधार के काम में विघ्न हो क्योंकि मुझको उनकी सेवा करना उनके साथ घूमने में श्रम और धन आदि का व्यय कराना नहीं चाहता।[1] मैंने पांचवें वर्ष में देवनगरी अक्षर पढ़ने का आरम्भ किया था। और मुझको कुल की रीति की शिक्षा भी माता पिता आदि किया करते थे, बहुत से धर्मशास्त्रादि के श्लोक और सूत्रादि भी कण्ठस्थ कराया करते थे। फिर आठवें वर्ष में मेरा यज्ञोपवीत कराके गायत्री संध्या और उसकी क्रिया भी सिखा दी गई थी। और मुझको यजुर्वेद की संहिता का आरम्भ कराके उसमें से प्रथम रुद्राध्याय पढ़ाया गया था, और मेरे कुल में शैव मत था उसी की शिक्षा भी किया करते थे। और पिता आदि लोग यह भी कहा करते थे कि पार्थिव पूजन अर्थात् मट्टी का लिङ्ग बनाके तू पूजा कर। और माता मने किया करती थी कि यह प्रातःकाल भोजन कर लेता है इससे पूजा नहीं हो सकेगी पिताजी हठ किया करते थे कि पूजा अवश्य करनी चाहिये क्योंकि कुल की रीति है। तथा कुछ-कुछ व्याकरण का विषय और वेदों का पाठ मात्र भी मुझको पढ़ाया करते थे। पिताजी अपने साथ मुझको जहां तहां मन्दिर और मेल मिलापों में ले जाया करते और यह भी कहा करते थे कि शिव की उपासना सबसे श्रेष्ठ है। इस प्रकार १४ चौदहवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद की संहिता संपूर्ण और कुछ अन्य वेदों का भी पाठ पूरा हो गया था। और शब्द रूपावली आदि छोटे-छोटे व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे हो गये थे। पिता जी जहां-जहां शिव पुराण आदि की कथा होती थी वहां, मुझ को पास बैठा कर सुनाया करते थे। और घर में भिक्षा की जीविका नहीं थी किन्तु जिमीदार और लेन-देन से जीविका के प्रबन्ध करके सब काम चलाते थे। और मेरे पिता ने माता के मने करने पर भी पार्थिव पूजन का आरम्भ करा दिया था। जब शिवरात्रि आई तब १३ त्रयोदशी के दिन कथा का माहात्म्य सुना के शिवरात्रि के व्रत करने का निश्चय करा दिया। परंतु माता ने मने भी किया कि इससे व्रत नहीं रहा जायगा तथापि पिताजी ने व्रत का आरम्भ करा दिया।

...आरम्भ करा दिया। और जब १४ चतुर्दशी की साम हुई तब बड़े-बड़े वस्ती के रईस अपने पुत्रों के सहित मंदिरों में जागरण करने को गये वहां मैं भी अपने पिता के साथ गया और प्रथम प्रहर की पूजा भी करी दूसरे

१. यह संशोधन श्री महाराज ने स्वहस्त से हाशिये पर किया है।

प्रहर की पूजा करके पुजारि[1] लोग बाहर निकलके सो गये। मैंने प्रथम से सुन रक्खा था कि सोने से शिवरात्रि का फल नहीं होता है। इसलिये अपनी आंखों में जल के छींटे मार के जागता रहा और पिता भी सो गये तब मुझ को शंका हुई कि जिसकी मैंने कथा सुनी थी वही यह महादेव है वा अन्य कोई क्योंकि वह तो मनुष्य के माफक एक देवता है। वह बैल पर चढ़ता, चलता फिरता, खाता पीता त्रिशूल हाथ में रखता डमरु बजाता वर और शाप देता और कैलाश का मालिक है इत्यादि प्रकार का महादेव कथा में सुना था, तब पिताजी को जगा के मैंने पूछा कि यह कथा का महादेव है वा कोई दूसरा तब पिता ने कहा कि क्यों पूछता है। तब मैंने कहा कि कथा का महादेव तो चेतन है वह अपने ऊपर चूहों को क्यों चढ़ने देगा और इसके ऊपर तो चूहे फिरते हैं तब पिताजी ने कहा कि कैलाश पर जो महादेव रहते हैं उनकी मूर्ति बना और आवाहन करके पूजा किया करते हैं अब कलियुग में उस शिव का साक्षात् दर्शन नहीं होता। इसलिए पाषाणादि की मूर्ति बना के उन महादेव की भावना रख कर पूजन करने से कैलाश का महादेव प्रसन्न हो जाता है। ऐसा सुन के मेरे मन में भ्रम हो गया कि इसमें कुछ गड़बड़ अवश्य है। और भूख भी बहुत लग रही थी पिता से पूछा कि मैं घर को जाता हूँ। तब उन्होंने कहा कि सिपाही को साथ लेके चला जा परन्तु भोजन कदाचित् मत करना। मैंने घर में जाकर माता से कहा कि मुझ को भूख लगी है। माता ने कुछ मिठाई आदि दिया उसको खाकर १ एक बजे पर सो गया। पिताजी प्रात:काल रात्रि के भोजन को सुनके बहुत गुस्से हुये कि तैंने बहुत बुरा काम किया। तब मैंने पिता से कहा कि यह कथा का महादेव नहीं है इसकी पूजा मैं क्यों करूं। मन में तो श्रद्धा नहीं रही परन्तु ऊपर के मन पिताजी से कहा कि मुझको पढ़ने से अवकाश नहीं मिलता कि मैं पूजा कर सकूं। तथा माता और चाचा आदि ने भी पिता को समझाया इस कारण पिता भी शान्त हो गये कि अच्छी बात है पढ़ने दो। फिर निघण्टु निरुक्त और पूर्व मीमांसा आदि शास्त्रों के पढ़ने की इच्छा करके आरम्भ करके पढ़ता रहा और कर्मकाण्ड विषय भी पढ़ता रहा। मुझसे छोटी १ बहन फिर उससे छोटा एक भाई फिर भी एक बहन और एक भाई अर्थात् दो बहन और दो भाई और हुए थे तब तक मेरी १६ वर्ष की अवस्था हुई थी। पीछे मुझसे छोटी १४ की जो बहन थी उसको हैजा हुआ एक रात्रि में कि जिस समय नाच हो रहा था। नौकर ने खबर दी कि उसको हैजा हुआ है। तब सब जने वहां से तत्काल आए और वैद्य आदि बुलाये औषधि भी की तथापि चार घन्टे में उस बहन का शरीर छूट गया सब लोग

रोने लगे। परन्तु मेरे हृदय में ऐसा धक्का लगा और भय हुआ कि ऐसे ही मैं भी मर जाऊंगा शोच विचार में पड़ गया। जितने जीव संसार में हैं उनमें से एक भी न बचेगा। इससे कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे यह दुःख छूटे और मुक्ति हो अर्थात् इसी सयय से मेरे चित्त में वैराग्य की जड़ पड़ गई। परन्तु यह विचार

१. स्वामी जी मंदिर के पूजारियों को विनोद में पुजारि—पूजा+अरि पूजा का शत्रु कहा करते थे।

अपने मन में ही रक्खा किसी से कुछ भी न कहा। इतने में १९ वर्ष की जब अवस्था हुई तब जो मुझ से अति प्रेम करने वाले बड़े धर्मात्मा विद्वान् मेरे चाचा थे उनकी मृत्यु होने से अत्यन्त वैराग्य हुआ कि संसार में कुछ भी नहीं परन्तु यह बात माता-पिता से तो नहीं कही किन्तु अपने मित्रों से कहा कि मेरा मन गृहाश्रम करना नहीं चाहता। उन्होंने माता-पिता से कहा माता-पिता ने विचारा कि इसका विवाह शीघ्र कर देना चाहिये। जब मुझको मालूम पड़ा कि ये २० बीसवें वर्ष में ही विवाह कर देंगे तब मित्रों से कहा कि मेरे माता-पिता को समझा दो अभी विवाह न करें। तब उन्होंने एक वर्ष जैसे-तैसे विवाह रोका तब तक २० बीसवां वर्ष पूरा हो गया। तब मैंने पिताजी से कहा कि मुझे काशी में भेज दीजिये कि मैं व्याकरण ज्योतिष और वैद्यक आदि ग्रन्थ पढ़ आऊँ। तब माता-पिता और कुटुम्ब के लोगों ने कहा कि हम काशी को कभी न भेजेंगे जो कुछ पढ़ना हो सो यहीं पढ़ो। और अगली साल में तेरा विवाह भी होगा क्योंकि लड़की वाला नहीं मानता। और हमको अधिक पढ़ा के क्या करना है जितना पढ़ा है वही बहुत है! फिर मैंने पिता आदि से कहा कि मैं पढ़ कर आऊँ तब विवाह होना ठीक है तब माता भी विपरीत हो गई कि हम कहीं नहीं भेजते और अभी विवाह करेंगे। तब मैंने चाहा कि अब सामने रहना अच्छा नहीं। फिर ३ कोश ग्राम में अपनी जिमीदारी थी वहां एक अच्छा पण्डित था माता-पिता की आज्ञा लेके वहां जाकर उस पण्डित के पास मैं पढ़ने लगा। और वहां के लोगों से भी कहा कि मैं गृहाश्रम करना नहीं चाहता। फिर माता-पिता ने मुझे बुला के विवाह की तैय्यारी कर दी तब तक २१ इक्कीसवां वर्ष भी पूरा हो गया। जब मैंने निश्चित जाना कि अब विवाह किये विना कदाचित् न छोड़ेंगे। फिर गुपचुप संवत् १९०३ के वर्ष घर छोड़ के संध्या के समय भाग उठा चार कोश पर एक ग्राम था वहां जाकर रात्रि को ठहर कर दूसरे दिन प्रहर रात्रि से उठ के १५ कोश चला परन्तु प्रसिद्ध ग्राम सड़क और जानकारों के ग्रामों को छोड़ के बीच-बीच में नित्य चलने का प्रारम्भ किया। तीसरे दिन मैंने किसी राज पुरुष से सुना कि फलाने का लड़का घर छोड़ कर चला गया उसको खोजने के लिये सवार और पैदल आदिमी यहां तक आये थे। जो मेरे पास थोड़े से रुपैये और अंगूठी आदि भूषण था वह सब पोपों ने ठग लिया। मुझसे कहा कि तुम पक्के वैराग्यवान् तब होंगे कि जब पास की चीज सब पुण्य कर दो फिर उन लोगों के कहने से मैंने जो कुछ था सब दे दिया। फिर लाला भगत की जगह जो कि सायले

शहर में है वहां बहुत साधुओं को सुन कर चला गया वहां एक ब्रह्मचारी मिला उसने
मुझसे कहा कि तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो जाओ उसने मुझको ब्रह्मचारी की दीक्षा दी और शुद्ध चैतन्य मेरा नाम रक्खा तथा काषाय वस्त्र भी करा दिये। जब मैं वहां से अहमदाबाद के पास कौठ गांगड़ जोकि छोटा सा राज्य है वहां आया तब मेरे गाम के पास का जान पहचान वाला एक वैरागी मिला उसने पूछा कि तुम कहां से आये और कहां जाया चाहते हो। तब मैंने उससे कहा कि घर से आया और कुछ देश भ्रमण किया चाहता हूं। उसने कहा कि तुमने काषाय वस्त्र धारण करके

क्या घर छोड़ दिया। मैंने कहा कि हां मैंने घर छोड़ दिया और कार्त्तिकी के मेले पर सिद्धपुर को जाऊंगा। फिर मैं वहां से चल कर सिद्धपुर में आके नीलकण्ठ महादेव की जगह में ठहरा कि जहां दण्डी स्वामी और ब्रह्मचारी ठहर रहे थे। उनका सत्संग और जो-जो कोई महात्मा वा पण्डित मेले में सुन पड़ा उन सबके पास गया और उनसे सत्संग किया। जो मुझको कौठ गांगड़ में वैरागी मिला था उसने फिर मेरे पिता के पास पत्र भेजा कि तुम्हारा पुत्र ब्रह्मचारी हुआ काषाय वस्त्र धारण किये मुझ को मिला और कार्त्तिकी के मेले में सिद्धपुर को गया। ऐसा सुन के सिपाहियों के सहित पिताजी सिद्धपुर में आकर मेले में खोज कर पता लगाके जहां पंडितों के बीच में मैं बैठा वहां पहुंच कर मुझ से बोले कि तू हमारे कुल में कलंक लगाने वाला पैदा हुआ। जब मैंने पिताजी की ओर देख के उठके चरण स्पर्श किया नमस्कार करके बोला कि आप क्रोधित मत हूजिये मैं किसी आदिमी के बहकाने से चला आया और मैंने बहुत सा दु:ख पाया। अब मैं घर को आने वाला था। परन्तु अब आप आये यह बहुत अच्छा हुआ कि अब मैं साथ-साथ घर को चलूंगा। तो भी क्रोध के मारे मेरे गेरु के रंगे वस्त्र और एक तूंबे को तोड़ फार के फेंक दिये और वहां भी बहुत कठिन-कठिन बातें कह कर बोले कि तू अपनी माता की हत्या लिया चाहता है। मैंने कहा कि मैं अब घर को चलूंगा तो भी मेरे साथ साथ सिपाही कर दिये कि क्षण भर भी इसको अकेला मत छोड़ो और इस पर रात्रि को भी पहरा रक्खो। परन्तु मैं भागने का उपाय देख रहा था। सो जब तीसरी रात के तीन बजे के पीछे पहरे वाला बैठा-बैठा सो गया उसी समय मैं लघु शंका का बहाना करके भागा। आध कोश पर एक मंदिर के शिखर में एक वृक्ष के सहारे से चढ़ और जल का लोटा भर के छिप कर बैठ रहा जब चार बजे का अमल हुआ तब मैंने उन्हीं सिपाहियों में से एक सिपाही मालियों से मुझ को पूछता सुना तब मैं और भी छिप गया ऊपर बैठा सुनता रहा वे लोग ढूंढ कर चले गये मैं उसी मंदिर की शिखर में दिन भर रहा। जब अन्धेरा हुआ तब उस पर से उतर सड़क को छोड़ के किसी से पूछा के दो कोश पर एक ग्राम था उसमें ठहर के अहमदाबाद होता हुआ बड़ोदरे शहर में आकर ठहरा वहां चेतन मठ में ब्रह्मानन्द आदि ब्रह्मचारी और संन्यासियों से वेदान्त विषय की बहुत बातें की। और ब्रह्म हूं अर्थात् जीव ब्रह्म एक है ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादि ने मुझको

मुझको करा दिया प्रथम वेदान्त पढ़ते समय भी कुछ-कुछ निश्चय हो गया था परन्तु ठीक दृढ़ हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ। फिर वहीं बड़ोदे में एक बनारसी बाई वैरागी का स्थान सुनकर उसमें जाके एक सच्चिदानन्द परमहंस से भेंट करके अनेक प्रकार की शास्त्र विषयक बातें हुई फिर वहां सुना कि आजकल चाणोद कन्याली में बड़े-बड़े संन्यासी ब्रह्मचारी और विद्वान् ब्राह्मण रहते हैं। वहां जाके दीक्षित और चिदाश्रमादि स्वामी ब्रह्मचारी और पण्डितों से अनेक विषयों का परस्पर संभाषण हुआ। फिर एक परमानन्द परमहंस से वेदान्तसार आर्य्या हरिमीड़े तोटक वेदान्त परिभाषा आदि प्रकरणों का थोड़े महिनों में विचार कर लिया। उस समय ब्रह्मचर्य्यावस्था में कभी-कभी अपने हाथ से रसोई बनाने पड़ती थी इस कारण पढ़ने में विघ्न विचार के

चाहा कि अब संन्यास लेना अच्छा है। फिर एक दक्षिणी पण्डित के द्वारा वहां जो दीक्षित स्वामी विद्वान् थे उनको कहलाया कि आप उस ब्रह्मचारी को संन्यास की दीक्षा दे दीजिये। क्योंकि मैं अपना ब्रह्मचारी का नाम भी बहुत प्रसिद्ध करना नहीं चाहता था क्योंकि घर का भय बड़ा था जोकि अब तक बना है। तब उन्होंने कहा कि उसकी अवस्था कम है इसलिए हम नहीं देते। इसके अनन्तर दो महिने के पीछे दक्षिण से एक दण्डी स्वामी और एक ब्रह्मचारी आके चाणोद से कुछ कम कोश भर मकान जो कि जंगल में था उसमें ठहरे उनको सुनकर एक दक्षिणी वेदान्ति पण्डित और मैं दोनों उनके पास जाके शास्त्र विषयक संभाषण करने से मालूम हुआ कि अच्छे विद्वान् हैं। और वे शृंगीरी मठ की ओर से आके द्वारिका की ओर को जाते थे उनका नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। उनसे उस वेदान्ति के द्वारा कहलाया कि ये ब्रह्मचारी विद्या पढ़ना चाहते हैं। यह मैं ठीक जानता हूँ कि किसी प्रकार का अपगुण इनमें नहीं है इनको आप संन्यास दे दीजिये संन्यास लेने का इनका प्रयोजन यही है कि निर्विघ्न विद्या का अभ्यास कर सकें। तब उन्होंने कहा कि किसी गुजराती स्वामी से कहो क्योंकि हम तो माराष्ट्र हैं। तब उसने कहा कि दक्षिणी स्वामी गौड़ों को भी संन्यास देते हैं तो यह ब्रह्मचारी तो पंच द्राविड़ है इसमें क्या चिन्ता है। तब उन्होंने मान लिया और उसी ठिकाने तीसरे दिन संन्यास की दीक्षा दण्ड ग्रहण कराया और दयानन्द सरस्वती नाम रक्खा। परन्तु मैंने दण्ड का विसर्जन भी उन्हीं स्वामी जी के साम्हने कर दिया क्योंकि दण्ड की भी बहुत सी क्रिया है कि जिससे पढ़ने में विघ्न हो सकता था। फिर वे स्वामी जी द्वारिका की ओर चले गये। मैं कुछ दिन चाणोद कन्याली में रहके व्यासाश्रम में एक योगानन्द स्वामी को सुना कि वे योगाभ्यास में अच्छे हैं उनके पास जाके योगाभ्यास की क्रिया सीख के एक कृष्ण शास्त्री छिनौर शहर के बाहर रहते थे उनको सुनके व्याकरण पढ़ने के लिये उनके पास गया और कुछ व्याकरण का अभ्यास करके फिर चाणोद में आकर ठहरा वहाँ दो योगी मिले कि जिनका नाम ज्वालानन्दपुरी और शिवानन्द गिरि था। उनसे भी योगाभ्यास की बातें हुई और उन्होंने कहा कि तुम अहमदाबाद में आओ वहां हम नदी के ऊपर दूधेश्वर महादेव में ठहरेंगे। वहां आवोगे तो योगाभ्यास की रीति सिखलावेंगे। वहाँ से वे

अहमदाबाद को चले गये फिर एक मोहन के पीछे मैं भी अहमदाबाद में जाके उनसे मिला और योगाभ्यास की रीति सीखी। फिर आबूराज पर्वत में योगियों को सुनके वहां जाके अर्वदा भवानी आदि स्थानों में भवानीगिरि आदि योगियों से मिल के कुछ और योगाभ्यास की रीति सीख के संवत् १९११ के वर्ष के अन्त में हरद्वार के कुम्भ के मेले में आके बहुत साधु संन्यासियों से मिला और जब तक मेला रहा तब तक चण्डी के पहाड़ के जंगल में योगाभ्यास करता रहा। जब मेला हो चुका तब हृषीकेश में जाके संन्यासियों और योगियों से योग की रीति सीखता और सत्संग करता रहा॥

इसके आगे फिर लिखेंगे

दयानन्दसरस्वती

फिर वहां से एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु मेरे साथ आये हम सब जने टिहरी में आए वहाँ बहुत साधु और राजपंडितों से समागम हुआ। वहाँ एक पण्डित ने एक दिन मुझे और ब्रह्मचारी को अपने घर में भोजन करने के लिये निमन्त्रण दिया। समय पर उसका एक मनुष्य बुलाने को आया। तब मैं और ब्रह्मचारी उसके घर भोजन करने को गये। जब उसके घर के द्वार में घुस करके देखा तो एक ब्राह्मण मांस को काटता था। उसको देखकर जब भीतर गये तब बहुत से पण्डितों को एक सिमियाने के भीतर बैठे देखे और वहाँ बकरे का मांस, चमड़ा और शिर देख के पीछे लौटे। पण्डित देख के बोला कि आइये। तब मैंने उतर दिया कि आप अपना काम कीजिये। हम बाहर जाते हैं। ऐसा कह कर अपने स्थान चले आये। तब पण्डित भी हमको बुलाने आया। उनसे मैंने कहा कि तुम सूखा अन्न भेज दो। हमारा ब्रह्मचारी बना लेगा। पण्डित वोले कि आपके लिए तो सब पदार्थ बनाये हैं। मैंने उनसे कहा कि आपके घर में मुझ से भोजन कदापि न किया जावेगा। क्योंकि आप लोग मांसाहारी हैं। और मुझको देखने से घृणा आती है। फिर पण्डित ने अन्न भेज दिया। पीछे वहाँ कुच्छ दिन ठहर कर पण्डितों से पूछा कि इस पहाड़ देश में कौन-कौन शास्त्र के ग्रन्थ देखने को मिलते हैं। मैं देखना चाहता हूँ। तब उन्होंने कहा कि व्याकरण, काव्य, कोष, ज्योतिष, और तन्त्र ग्रन्थ बहुत मिलते हैं। तब मैंने कहा कि और ग्रन्थ तो मैंने देखे हैं परन्तु तन्त्र ग्रन्थ देखना चाहता हूँ। तब उन्होंने छोटे बड़े ग्रन्थ मुझको दिये। मैंने देखे तो बहुत भृष्टाचार की बातें उनमें देखीं कि माता, कन्या, भगिनी, चमारी, चांडाली, आदि से संगम करना, नग्न करके पूजना। मद्य, मांस, मच्छी, मुद्रा अर्थात् ब्राह्मण से लेके चांडाल पर्य्यन्त एकत्र भोजन करना और उक्त स्त्रियों से मैथुन करना इन पांच मकरों से मुक्ति का होना आदि लेख उनमें देख के चित्त को खेद हुआ कि जिनने ये ग्रन्थ बनाये हैं वे कैसे नष्टबुद्धि थे। फिर वहाँ से श्रीनगर को जाके केदार घाट पर मन्दिर में ठहरे और वहाँ भी तन्त्र ग्रन्थों का देखना और पण्डितों से इस विषय में संवाद होता रहा। इतने में एक गंगागिरि साधु जो कि पहाड़ में ही रहता

था। उससे भेंट हुई और योग विषय में कुच्छ बातचीत होने से विदित हुआ कि यह साधु अच्छा है। कई बार उससे बातें हुई। मैंने उससे पूछा उसने उत्तर दिया उसने मुझसे पूछा उसका उत्तर मैंने दिया। दोनों प्रसन्न होकर दो महिने तक वहाँ रहे। जब वर्षा ऋतु आई तब आगे रुद्र प्रयागादि देखता हुआ अगस्त मुनि के स्थान पर पहुंच कर उसके उत्तर पहाड़ पर एक शिवपुरी स्थान है वहाँ जाकर चार महिने निवास करके पीछे उन साधु और ब्रह्मचारी को वहाँ छोड़ के अकेला केदार की ओर चलता हुआ गुप्त काशी में पहुंचा। वहाँ कुच्छ दिन रह कर वहाँ से आगे चल के त्रियुगीनारायण का स्थान और गौरीकुण्ड देखता हुआ भीम गुफा देखकर थोड़े ही दिनों में केदार में पहुंच कर निवास किया। वहाँ कई एक साधु पण्डे और केदार के पूजारी जङ्गम मत के थे उनसे समागम हुआ तब तक पांच छः दिन के पीछे वे साधु और ब्रह्मचारी भी वहाँ आ गये। वहाँ का सब चरित्र देखा। फिर इच्छा हुई कि इन बर्फ के पहाड़ों में भी कुच्छ घूम के देखें कि कोई साधु महात्मा रहता है वा नहीं परन्तु मार्ग कठिन और

उन पहाड़ों में अतिशीत भी है। वहाँ के निवासियों से भी पूछा कि इन पहाड़ों में कोई साधु महात्मा रहता है वा नहीं। उन्होंने कहा कि कोई नहीं। वहाँ २० बीस (दिन) रहकर पीछे को अकेला ही लौटा क्योंकि वह ब्रह्मचारी और साधु दो दिन रह कर शीत से घभरा के प्रथम ही चले गये थे। फिर मैं वहाँ से चल के तुङ्गनाथ के पहाड़ पर चढ़ गया। उसका मन्दिर पूजारी बहुत सी मूर्ति आदि की सब लीला को देख कर तीसरे पहर वहाँ नीचे को उतरा। बीच में से दो मार्ग थे एक पश्चिम को और एक पश्चिम और दक्षिण के बीच को जाता था जो जङ्गली मार्ग था मैं उसमें चढ़ गया। आगे दूर जाकर देखा तो जंगल पहाड़ और बहुत गहरा सूखा नाला है उसमें मार्ग बन्द हो रहा है। विचारा कि जो पहाड़ पर चढ़े तो रात हो जावेगा पहाड़ का मार्ग कठिन है वहाँ पहुंच नहीं सकता। ऐसा विचार उस नाले में बड़ी कठिनता से घास और वृक्षों को पकड़-पकड़ नीचे उतर कर नाले के किनारे पर चढ़ कर देखा तो पहाड़ और जङ्गल है कहीं भी मार्ग नहीं। तब तक सूर्य्य अस्त होने को आया विचारा कि जो रात हो जावेगी तो यहाँ जल अग्नि कुच्छ भी नहीं है फिर क्या करेंगे ऐसा विचार कर आगे को बढ़ा जङ्गल में चलते अनेक ठोकर और कांटे लगे शरीर के वस्त्र भी फट गये। बड़ी कठिनता से पहाड़ के पार उतरा तब सड़क मिला। और अन्धेरा भी हो गया। फिर सड़क-सड़क चल के एक स्थान मिला वही के लोगों से पूछा कि यह कहाँ की सड़क है कहा कि ओखी मठ का। फिर वहां रात्रि को रहकर क्रम से गुप्त काशी आया वहाँ थोड़ा ठहर कर ओखी मठ में जाकर उसमें ठहर के देखा तो बड़ी भारी पोप लीला बड़े भारी कारखाने। वहाँ के महान्त ने कहा कि तुम हमारे चेले हो जाओ यहाँ रहो, लाखों के कारखाने तुम्हारे हाथ हो जावेंगे मेरे पीछे तुम्ही महान्त होंगे। मैंने उनको उत्तर दिया कि सुनो ऐसी मेरी इच्छा होती तो अपने माता, पिता, बन्धु, कुटुम्ब, और घर आदि ही क्यों छोड़ता क्या तुम्हारा स्थान और तुम उनसे भी अधिक हो सकते हो। मैंने जिस लिये सब छोड़े हैं वह तुम्हारे पास किंचिन्मात्र भी नहीं

है उनसे पूछा कि कहो क्या बात है। मैंने उत्तर दिया कि सत्य विद्या, योग, मुक्ति और अपने आत्मा का पवित्रता आदि गुणों से धर्म्मात्मता पूर्वक उन्नति करना है। तब महान्त ने कहा कि अच्छा तुम कुच्छ दिन यहाँ रहो। मैंने उनको कुच्छ उत्तर न दिया और प्रात:काल उठके मार्ग में चल के जोशी मठ को पहुंच के वहां के दक्षिणी शास्त्री और संन्यासी थे उनसे मिल कर वहाँ ठहरा ॥

और बहुत से योगियों और विद्वान् महन्तों और साधुओं से भेंट हुई और उनसे वार्तालाप में मुझको योग विद्या सम्बन्धी और बहुत नई बातें ज्ञात हुईं।

उनसे पृथक् होकर पुन: मैं बद्रीनारायण को गया। विद्वान् रावल जी उस समय उस मन्दिर का मुख्य महन्त था। और मैं उसके साथ कई दिन तक रहा। हम दोनों

का परस्पर वेदों और दर्शनों पर बहुत वाद विवाद रहा। जब उनसे मैंने पूछा कि इस परिस्थिति में कोई विद्वान् और सच्चा योगी भी है या नहीं, तो उसने यह जताने में बड़ा शोक प्रकट किया कि इस समय इस परिस्थति में कोई ऐसा योगी नहीं है। परन्तु उसने बताया कि मैंने सुना है कि प्राय: ऐसे योगी इसी मन्दिर के देखने के लिये आया करते हैं। उस समय मैंने यह दृढ़ संकल्प कर लिया, कि समस्त देशों में और विशेषत: पर्वतीय स्थलों में अवश्य ऐसे पुरुषों का अन्वेषण करूंगा। एक दिन सूर्योदय के होते ही मैं अपनी यात्रा पर चल पड़ा और पर्वत की उपत्यका में होता हुआ अलखनन्दा नदी के तट पर जा पहुंचा। मेरे मन में उस नदी के पार करने की किंचित इच्छा न थी। क्योंकि मैंने उस नदी के दूसरी ओर एक बड़ा ग्राम माना नामक देखा, अतः अभी उस पर्वत की उपत्यका में ही अपनी गति रख कर नदी के वेग के साथ साथ मैं जंगल की ओर हो लिया। पर्वत, मार्ग और टीले आदि सब हिम के वस्त्र पहने हुये थे। और बहुत घनी हिम उनके ऊपर थी। अत: अलखनन्दा नदी के स्रोत तक पहुंचने में मुझको अत्यन्त कष्ट उठाने पड़े। परन्तु जब मैं वहाँ गया तो अपने आपको सर्वथा अपरिचित और अजान जाना। और अपने चारों ओर ऊंची ऊंची पहाड़ियाँ देखी तो मुझे आगे का मार्ग बन्द दिखाई दिया। कुछ ही काल पश्चात् पथ सर्वथा लुप्त हो गया और उस मार्ग का मुझ को कोई पता न मिला। उस समय मैं सोच व चिंता में था कि क्या करना चाहिये। अन्ततः अपना मार्ग अन्वेषण करने के अर्थ मैंने नदी को पार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। मेरे पहने हुए वस्त्र बहुत हलके और थोड़े थे और शीत अत्यधिक था। कुछ ही काल पश्चात् शीत ऐसा अधिक हुआ कि उसका सहन करना असम्भव था। क्षुधा और पिपासा ने जब मुझे अत्यन्त बाधित किया तो मैं एक हिम का टुकड़ा खाकर उसको बुझाने का विचार किया, परन्तु उससे किंचित आराम वा संतुष्टि प्रतीत न हुई। पुन: मैं नदी

में उतर उसे पार करने लगा।

कतिपय स्थानों पर नदी बहुत गम्भीर थी और कहीं पानी बहुत कम था। परन्तु एक हाथ या आध गज से कम गहरा कहीं न था। किन्तु विस्तार अर्थात् पार में दस हाथ तक था अर्थात् कहीं से चार गज और कहीं से पांच गज। नदी हिम के छोटे और तिरछे टुकड़ों से भरी हुई थी। उन्होंने मेरे पांव को अति घावयुक्त कर दिया सो मेरे नग्न पांव से रक्त बहने लगा। मेरे पांव शीत के कारण नितान्त सन्न हो गये थे। जिस कारण मैं बड़े-बड़े घावों से भी कुछ काल तक अचेत रहा। इस स्थान पर अतिशीत के कारण मुझ पर अचेतनता सी छाने लगी। यहां तक कि मैं अचेतन अवस्था में होकर हिम पर गिरने को था जब मुझे विदित हुआ कि यदि मैं यहाँ पर इसी प्रकार गिर गया तो पुनः यहां से उठना मेरे लिये अत्यन्त असम्भव और कठिन होगा। एवं दौड़ धूप करके जैसे हुआ मैं प्रबल प्रयत्न करके वहां से कुशल मंगल पूर्वक निकला और नदी के दूसरी ओर जा पहुंचा। वहां जाकर यद्यपि कुछ काल तक मेरी अवस्था ऐसी रही जो जीवित की अपेक्षा मृतवत् थी तथापि मैंने अपने शरीर के उपरिभाग को सर्वथा नंगा कर लिया और अपने समस्त वस्त्रों से जो मैंने पहने हुये

थे जानु वा पांव तक जंघा को लपेट लिया। और वहां पर मैं सर्वथा शक्तिहीन और घबराया हुआ आगे को हिल सकने और चल सकने में अशक्त खड़ा हो गया। इस प्रकार प्रतीक्षा में था कि कोई सहायता मिले जिससे मैं आगे को चलूं। परन्तु इस बात की कोई आशा न थी कि वह आवेगी कहाँ से ? सहायता की आशा में था, परन्तु सर्वथा विवश था और जानता था कि कोई सहायता का स्थान दिखाई नहीं देता। अन्त को पुनः एक बार मैंने अपने चारों ओर दृष्टि की और अपने सम्मुख दो पहाड़ी पुरुषों को आते हुये देखा जो मेरे समीप आये अपने काश सम्भ से (?) मुझ को प्रणाम करके उन्होंने अपने साथ घर जाने के लिये मुझे बुलाया और कहा, "आओ, हम तुमको वहां खाने को भी देवेंगे।" जब उन्होंने मेरे क्लेशों को सुना और मेरे वृत्त को श्रवण किया तो कहने लगे "हम तुमको सिद्धपत पर भी जो एक तीर्थस्थान है, पहुँचा देवेंगे। परन्तु उनका मुझको यह सच कहना अच्छा प्रतीत न हुआ। मैंने अस्वीकार किया और कहा "महाराज, शोक ! मैं आपकी यह सब कृपा स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि मुझ में चलने की किंचित शक्ति नहीं है।" यद्यपि उन्होंने मुझको बहुत आग्रह पूर्वक बुलाया और आने के लिये अत्यधिक अनुरोध किया, तथापि मैं वहीं अपने पांव जमाये खड़ा रहा और उनकी आज्ञा वा इच्छानुकूल मैं उनके पीछे चलने का साहस न कर सका। मैंने उनसे कह दिया कि यहां से हिलने का प्रयत्न करने की अपेक्षा मैं मर जाना उत्तम समझता हूँ। ऐसा कह कर मैंने उनकी बातों की ओर ध्यान करना भी बंद कर दिया अर्थात् पुनः उन्हें न सुना। उस समय मेरे मन में विचार आता था कि उत्तम होता यदि मैं लौट जाता और अपने पाठ को स्थिर रखता इतने में वह दोनों सज्जन वहां से चले गये और कुछ ही काल में पर्वतों में लुप्त हो गये।

वहां जब मुझे शांति प्राप्त हुई तो मैं भी आगे को चला और कुछ काल वसुधारा

(प्रसिद्ध तीर्थ व यात्रा स्थान) पर विश्राम करके माना ग्राम के निकटवर्ती प्रदेश में होता हुआ उसी सायं लगभग आठ बजे बद्रीनारायण जा पहुंचा। मुझे देख कर रावल-जी और उनके साथी जो घबराये हुए थे, विस्मय प्रकाश पूर्वक पूछने लगे—"आज सारा दिन तुम कहाँ रहे?" तब मैंने सब वृत्तान्त क्रमबद्ध सुनाया उस रात्रि कुछ आहार करके जिससे मेरी शक्ति लौटती हुई जान पड़ी, मैं सो गया। दूसरे दिन प्रातः शीघ्र ही उठा और रावलजी से आगे जाने की आज्ञा मांगी। और अपनी यात्रा से लौटता हुआ रामपुर की ओर चल पड़ा। उस सायं चलता-चलता एक योगी के घर पहुंचा। वह बड़ा तपस्वी था। रात्रि उसी के घर काटी। वह पुरुष जीवित ऋषि और साधुओं में उच्च कोटि के ऋषि होने का गौरव रखता था। धार्मिक विषयों पर बहुत काल तक उसका मेरा वार्तालाप हुआ। अपने संकल्पों को पहले से अधिक दृढ़ करके मैं आगामी दिन प्रातः उठते ही आगे को चल दिया। कई वनों और पर्वतों से होता हुआ चिलका घाटी से उतर कर मैं अन्ततः रामपुर पहुंच गया। वहां पहुंच कर मैंने प्रसिद्ध रामगिरि के स्थान पर निवास किया। यह पुरुष पवित्राचार और आध्यात्मिक जीवन के कारण अतिप्रसिद्ध था। मैंने उसको विचित्र प्रकृति का पुरुष पाया। अर्थात् वह सोता नहीं था, वरन् सारी-सारी रातें उच्चस्वर से बातें करने में व्यतीत करता।

वह बातें प्रकट में अपने साथ करता हुआ प्रतीत होता था। प्रायः हमने उच्च स्वर से चीख मारते हुये उसे सुना। पुनः कई बार रोते हुये और चीख मारते हुये सुना। पर वस्तुतः जब उठ कर देखा तो उसके कमरे में उसके अतिरिक्त और कोई पुरुष दिखाई न दिया। मैं ऐसी वार्ता से अत्यन्त विस्मित हुआ। जब मैंने उसके चेलों और शिष्यों से पूछा तो उन विचारों ने केवल यही उत्तर दिया कि ऐसी इनकी प्रकृति ही है।" पर मुझे यह कोई न बता सका कि इसका क्या रहस्य है। अन्त को स्वयं जब मैंने उस साधु से कई बार एकान्त में चर्चा की तो मुझे ज्ञात हो गया कि वह क्या बात थी। इस प्रकार मैं इस निश्चय करने के योग्य हो गया कि अभी वह जो कुछ करता है वह पूरी-पूरी योग विद्या का फल नहीं है, प्रत्युत पूरी में अभी उसे न्यूनता है और यह वह वस्तु नहीं कि जिसकी मुझे जिज्ञासा है। यह पूरा योगी नहीं यद्यपि योग में कुछ गति रखता है।

उससे चलकर मैं काशीपुर गया। वहां से द्रोणसागर जा पहुंचा। वहीं मैंने सारा शरद् ऋतु काटा। हिमालय पर्वत पर पहुंच कर देह त्याग करना चाहिये, ऐसी इच्छा हुई। परन्तु मन में यह विचार आ गया कि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् देह छोड़ना चाहिये। अतः वहां से मुरादाबाद होता हुआ सम्भल आ पहुँचा। वहां से गढ़मुक्तेश्वर से होते हुये पुनः मैं गंगा तट पर आ निकला। उस समय अन्य धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त मेरे पास निम्न लिखित पुस्तकें भी थीं। शिव संध्या, हठ योग प्रदीपिका, केशाराणि संगीत (?) प्रायः मैं इन्हीं पुस्तकों को यात्रा में पढ़ा करता था। उनमें से कई पुस्तकों का विषय नाड़ी चक्र था। पर उनमें इस विषय का ऐसा लम्बा चौड़ा

विवरण था कि पुरुष पढ़ता-पढ़ता थक जाता। मैं उन्हें कभी भी पूर्णतया अपनी बुद्धि में न ला सका और न ही समझकर स्मरण कर सका। अतः मुझे विचार हुआ कि न जाने ये सत्य भी हैं वा नहीं। ऐसा संदेह होता ही गया, यद्यपि मैं अपने संशय मिटाने का यत्न करता रहा। परन्तु वह संदेह दूर न हुये और न ही उनके दूर करने का कोई अवसर प्राप्त हुआ।

एक दिन दैव संयोग से एक शव मुझे नदी में बहता हुआ मिला। तब समुचित अवसर प्राप्त हुआ कि मैं उसकी परीक्षा करता और अपने मन में उन पुस्तकों के सम्बन्ध में जो विचार उत्पन्न हो चुके थे उनका निर्णय करता। सो उन पुस्तकों को जो मेरे पास थीं, समीप ही एक ओर रख, वस्त्रों को ऊपर उठा मैं नदी के भीतर गया और शीघ्र वहां जा शव को पकड़ तट पर आया। मैंने तीक्ष्ण चाकू से जैसा हो सका उसे यथायोग्य काटना प्रारम्भ किया और हृदय को उसमें से निकाल लिया और ध्यानपूर्वक देख परीक्षा की। अब पुस्तकोल्लिखित वर्णन की उससे तुलना करने लगा। ऐसे ही शिर और ग्रीवा के अंगों को काट कर सामने रक्खा। यह निश्चय करके कि दोनों अर्थात् पुस्तक और शव लेश मात्र भी परस्पर नहीं मिलते, मैंने पुस्तकों को फाड़ कर उनके टुकड़े कर डाले और शव को फेंक साथ ही पुस्तकों के टुकड़ों को भी नदी में फेंक दिया। उसी समय से शनैः शनैः मैं यह परिणाम निकालता गया, कि वेदों, उप-

निषदों, पातञ्जल और सांख्यशास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त पुस्तकें जो विज्ञान और विद्या पर लिखी गयीं मिथ्या और अशुद्ध हैं। ऐसे ही कुछ दिन और गंगा तीर पर विचरते हुये फर्रुखाबाद पहुंचा। और शृंगीराम पुर से होकर छावनी की पूर्व दिशा वाली सड़क से कानपुर जाने वाला था, जब संवत् १९१२ विक्रम समाप्त हुआ।

१९१३ वि० अगले पांच मास में कानपुर वा प्रयाग के मध्यवर्ती अनेक प्रसिद्ध स्थान मैंने देखे। भाद्रपद के प्रारम्भ में मिर्जापुर पहुंचा। वहां एक मास से अधिक विंध्याचल अशोलजी के मंदिर में निवास किया। असूज के आरम्भ में काशी पहुंचा। वहां जाके मैं उस गुफा में ठहरा जो वरणा और गंगा के संगम पर है। और जो उस समय भवानन्द सरस्वती के अधिकार में थी। वहां पर कई शास्त्रियों अर्थात् काकाराम, राजाराम आदि से मेरा परिचय हुआ परन्तु वहां केवल १२ ही दिन रहा।

तत्पश्चात् जिस वस्तु की खोज में था उसके अर्थ आगे को चल दिया। और असूज सुदि २ सं० १९१३ को दुर्गाकुण्ड के मंदिर पर जो चण्डालगढ़ में है, पहुंचा। वहां दस दिन व्यतीत किये। यहां मैंने चावल खाने सर्वथा छोड़ दिये और केवल दूध पर अपना निर्वाह करके दिन-रात योग विद्या के अध्ययन और अभ्यास में तत्पर रहा। दौर्भाग्यवश वहां मुझे एक बड़ा दोष लग गया, अर्थात् भांग पीने का स्वभाव हो गया। सो कई बार उसके प्रभाव से मैं सर्वथा बेसुध हो जाया करता। एक दिन मंदिर से निकल कर चण्डालगढ़ के निकटस्थ जो एक ग्राम आता था तो एक पुराना साथी मिला।

ग्राम के दूसरी ओर कुछ ही दूर एक शिवालय था। वहां जाकर मैंने रात काटी। रात्रि के समय भांग से उत्पन्न हुई मादकता के कारण जब मैं अचेत सोता था तो मैंने एक स्वप्न देखा। वह ऐसे था। मुझे विचार हुआ कि मैंने महादेव और उनकी स्त्री पार्वती को देखा। वे परस्पर वार्त्तालाप कर रहे थे और उनकी बातों का पात्र मैं था, अर्थात् मेरे ही सम्बन्ध में वे कह रहे थे। पार्वती महादेव जी से कहती थी "उत्तम हो यदि दयानन्द सरस्वती का विवाह हो जावे" परन्तु देवता इससे भेद प्रकट कर रहे थे और उनका संकेत भांग की ओर था। मैं जागा और स्वप्न पर विचार करने लगा। तब मुझे बड़ा दु:ख और क्लेश हुआ। उस समय धारासार वर्षा हो रही थी। मैंने उस बरामदे में जो मंदिर के मुख्य द्वार के सन्मुख थे विश्राम किया। वहां नन्दी वृष-देवता की एक विशाल मूर्ति खड़ी थी। अपने वस्त्र पुस्तकादि उसकी पृष्ठ पर रखकर मैं उसके पीछे बैठ गया और निज विचार में निमग्न हुआ। सहसा नन्दी मूर्ति के भीतर दृष्टिपात करने पर मुझे विदित हुआ कि एक मनुष्य उसमें छिपा हुआ है। मैंने अपना हाथ उसकी ओर फैलाया। इससे वह अति भयभीत हुआ, क्योंकि मैंने देखा कि उसने तत्काल छलांग मारी और छलांग मारते ही वेग से ग्राम की ओर भागा। तब उसके जाने पर मैं उस ही मूर्ति के भीतर बैठ गया और अवशिष्ट रात्रि भर वहां सोता रहा। प्रात:काल एक वृद्धा वहां आई। उसने वृष देवता की पूजा की, जिस अवस्था में कि मैं भी उसके अन्दर ही बैठा हुआ था। कुछ देर पीछे वह गुड़ और दही लेकर लौटी। मेरी पूजा करके और भ्रान्ति से मुझे ही देवता समझकर उसने कहा "आप

इसे ग्रहण कीजिये और इसमें से कुछ खाइये।" मैंने क्षुधार्त्त होने के कारण वह सब खा लिया। दही क्योंकि बहुत खट्टा था, अत: भांग की मादकता के दूर करने में एक अच्छा निदान हो गया। उससे मादकता जाती रही और मुझे बहुत आराम प्रतीत हुआ।

चैत्र १९१४—वहां से आगे चला और वह मार्ग पकड़ा कि जिस ओर पर्वत थे और जहां से नर्मदा निकलती है, अर्थात् नर्मदा के स्रोत की ओर यात्रा आरम्भ की। मैंने कभी एक बार भी किसी से मार्ग नहीं पूछा प्रत्युत दक्षिण की ओर यात्रा करता हुआ चला गया। शीघ्र ही मैं एक ऐसे उजाड़, निर्जन स्थान में पहुंच गया जहां चारों ओर बहुत घने वन और जंगल थे। वहां जंगल में अनियमित दूरी पर बिना क्रम झाड़ियों के मध्य में कई स्थानों पर मलिन और उजाड़ झोंपड़ियां थीं। कहीं-कहीं पृथक्-पृथक् ठीक झोंपड़ियां भी दृष्टिगोचर होती थीं। उन झोंपड़ियों में से एक पर मैंने किञ्चित दुग्धपान किय और पुन: आगे की ओर चल दिया। परन्तु इसके आगे लगभग पौन कोस चलकर मैं पुन: एक ऐसे ही स्थान पर पहुंचा जहां कोई प्रसिद्ध मार्ग आदि दिखाई न देता था। अब मेरे लिये यही उचित प्रतीत होता था कि उन छोटे-छोटे मार्गों में से (जिन्हें मैं न जानता था कि कहां जाते हैं।) कोई एक चुनूं और उस ओर चल दूं। सुतरां मैं शीघ्र ही एक निर्जन वन से प्रविष्ट हुआ। उस जंगल में बेरियों के बहुत वृक्ष थे। परन्तु घास इतना घना और लम्बा था कि मार्ग सर्वथा दृष्टिगोचर न होता था। वहां मेरा सामना एक बड़े काले रीछ से हुआ। वह पशु

बड़े वेग और उच्च स्वर से चींखा। चिंघाड़ कर अपनी पिछली टाँगों पर खड़ा हो मुझे खाने के निमित्त उसने अपना मुख खोला। कुछ काल तक मैं निष्क्रिय स्तब्धवत् खड़ा रहा। पश्चात् शनैः शनै मैंने अपने सोटे को उसकी ओर उठाया। उससे भयभीत हो वह उलटे पाँव लौट गया। उसकी चिंघाड़ वा गर्ज ऐसी बलपूर्ण थी कि ग्राम वाले जो मुझे अभी मिले थे, दूर से उसका शब्द सुन कर लठ ले शिकारी कुत्तों सहित मेरी रक्षार्थ वहाँ आये। उन्होंने मुझे यह समझाने का परिश्रम किया कि मैं उनके साथ चलूं। वे बोले "इस जंगल में यदि तुम कुछ भी आगे बढ़ोगे तो तुम्हें संकटों का सामना करना पड़ेगा। पर्वत या बन में बहुत से भयानक क्रूर और हिंसक जंगली पशु अर्थात् रीछ, हाथी, शेर आदि तुमको मिलेंगे।" मैंने उनसे निवेदन किया कि आप मेरे कुशल मंगल का कुछ भय न करें क्योंकि मैं कुशल मंगल, और रक्षित हूँ। मेरे मन में तो यही सोच थी कि किसी प्रकार नर्मदा का स्रोत देखूं। अतः समस्त भय और कष्ट मुझे अपने संकल्प से न रोक सकते थे। जब उन्होंने देखा कि उनकी भयानक बातें मेरे लिये कोई भय उत्पन्न नहीं करतीं और मैं अपने संकल्प में पक्का हूँ तो उन्होंने मुझे एक दण्ड दिया जो मेरे सोटे से बड़ा था और जिससे मैं अपनी रक्षा करूं। परन्तु मैंने उस दण्ड को तुरन्त अपने हाथ से फेंक दिया।

उस दिन जब तक कि संसार में चारों ओर अन्धकार न छाया मैं बराबर यात्रा करता हुआ चला गया। कई घण्टों तक मानव वस्ती का मुझे कोई चिह्न न मिला। दूर-दूर तक कोई ग्राम दिखाई न दिया। कोई झोपड़ी भी तो दृष्टिगोचर न होती थी

और न ही कोई मनुष्य जाति मेरी आँखों के सामने आई। पर वह वस्तुएँ जो प्रायः मेरे मार्ग में आईं, वृक्ष थे। उनमें से अनेक टूटे पड़े थे कि जिनकी जड़ों को मस्त हस्तियों ने तोड़ और उखेड़ कर फेंक दिया था। इससे कुछ दूर आगे मुझे एक विशाल विकट वन दिखाई दिया। उसमें प्रवेश करना कठिन था अर्थात् बेर आदि कांटे वाले वृक्ष इतने घने लगे हुए थे कि उनके भीतर से निकल कर वन में पहुंचना अति दुस्तर प्रत्युत असम्भव प्रतीत होता था। प्रथम तो मुझे उसके भीतर से निकलना असम्भव दिखाई दिया, परन्तु पीछे पेट के बल और जानू के सहारे मैं शनैःशनैः सर्पवत् उन वृक्षों में से निकला। और इस प्रकार उस बाधा और कठिनाई पर विजय प्राप्त की। इस दिग्विजय के प्राप्त करने में मुझ को अपने शरीर के मांस को भी भेंट करना पड़ा। मैं इसमें से घायल और अधमरा होकर निकला। उस समय सर्वत्र अन्धकार छाया हुआ था। तम के अतिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर न होता था। यद्यपि मार्ग रुका हुआ था और दिखाई न देता था तो भी मैं आगे बढ़ने के विचार को तोड़ न सकता था। मैं इस आशा में था कि कोई मार्ग निकल ही आवेगा। अतएव निरन्तर आगे को चलता गया और बढ़ता रहा। अन्त को मैं एक ऐसे भयानक स्थान में पहुंचा कि जहां चारों ओर उच्च शैल और पर्वत थे कि जिन पर घनी औषधियाँ और

वनस्पतियां उगी हुई थीं। पर इतना अवश्य था कि मनुष्यवास के वहां कुछ-कुछ चिह्न और संकेत पाये जाते थे। अस्तु। शीघ्र ही मुझे कई झोंपड़ियां और कुटियायें दिखाई पड़ीं। उनके चारों ओर गोबर के ढ़ेर लगे हुये थे। निकट ही स्वच्छ जल की एक छोटी सी नदी थी। उसके तीर पर बहुत सी बकरियां चर रही थीं। झोंपड़ियों और टूटे-फूटे घरों के द्वारों और छिद्रों में से टिमटिमाता हुआ प्रकाश दिखाई देता था जो जाते हुये पथिक को स्वागत और बधाई के शब्द सुनाता हुआ प्रतीत होता था। मैंने वहाँ एक विशाल वृक्ष के नीचे जो एक झोंपड़ी के ऊपर फैला हुआ था रात्रि व्यतीत की। प्रातः उठकर मैं अपने क्षत पांव, हाथ, और दण्ड को नदी जल से धोकर संध्या वा प्रार्थना के लिये बैठने को ही था कि किसी जंगली पशु की गर्ज मेरे कर्णगोचर हुई। वह ध्वनि 'टमटम' का उच्च स्वर था। कुछ काल पश्चात् मैंने एक बड़ी सवारी या जन समूह को आते हुये देखा। उसमें बहुत से स्त्री-पुरुष और बालक थे। उनके पीछे बहुत-सी गौअें और बकरियाँ थीं। वे एक झोंपड़ी या घर से निकले। अनुमान है कि वे किसी धार्मिक त्यौहार की रस्में पूरी करने के लिये जो रात्रि को हुआ, आये थे। जब उन्होंने मेरी ओर देखा और मुझे उस स्थान में एक अजान पुरुष जाना तो बहुत से मेरे चारों ओर एकत्र हुये। अन्ततः एक वृद्ध पुरुष ने आगे बढ़कर मुझ से पूछा तुम कहां से आये हो? मैंने उन सबसे कहा कि मैं काशी से आया हूं और अब नर्मदा नदी के स्रोत की ओर यात्रा के लिये जा रहा हूं। इतना पूछ कर वे सब मुझे अपनी उपासना करने में निमग्न छोड़ कर चले गये। उनके जाने के आधा घण्टा पश्चात् उनका एक अध्यक्ष दो पर्वतीय पुरुषों सहित मेरे पास आया और एक दिशा में बैठ गया। वह वस्तुतः उन सबकी

ओर से प्रतिनिधि बन कर मुझे अपनी झोंपड़ियों में बुलाने को आया था परन्तु पूर्ववत् मैंने अब भी उनका निमन्त्रण अस्वीकार किया क्योंकि वे सब मूर्तिपूजक थे। तब उसने अपने साथ वालों को मेरे समीप अग्नि प्रज्वलित करने का आदेश किया। और दो पुरुषों को स्थापित किया कि रात्रि भर मेरी रक्षा करते हुये जागते रहें। जब उसने मुझ से मेरे भोजन के सम्बन्ध में पूछा और मैंने उसे बताया कि मैं केवल दूध पीकर निर्वाह करता हूं तो उस दयावान् अध्यक्ष व नेता ने मुझ से मेरा तू ा मांगा। उसे लेकर वह अपनी कुटी को गया और वहां से उसे दूध से भर कर मेरे पास भेज दिया मैंने उस रात्रि उसमें से थोड़ा सा दूध पिया। वह फिर मुझे उन दोनों पहरा देन वालों के ध्यान में छोड़ कर लौट गया। उस रात्रि मैं घोर निद्रा में सोया और सूर्योदय तक सोया रहा। तत्पश्चात् अपने संध्या आदि से अवकाश प्राप्त करके मैं उठा और यात्रा के लिये चला। □□

१५.१
२६ मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती संक्षेपसे अपना जन्मचरित्र लिखता हूँ॥१॥

संवत १८८१ के वर्षमें मेरा जन्म दक्षिण गुजरात प्रान्त देश काठियावाड का मजोकठा
यहां ~~[illegible]~~ [illegible] निवासस्था
देश मोर्वीका राज्य औदीच्य ब्राह्मणके घरमें हुआ था, मैंने पांचवे वर्षमें देवना
गरी अक्षर पढनेका आरम्भ किया था। और मुझको कुलकी रीतिकी शिक्षा भी माता
पिता आदि किया करते थे, बहुत से धर्म शास्त्रादि के श्लोक और सूत्रादि भी कण्ठस्थ कराया
करते थे। फिर ८ आठवें वर्षमें मेरा यज्ञोपवीत करा के गायत्री संध्या और उसकी क्रिया
भी सिखादी गई थी। और मुझको यजुर्वेदकी संहिताका आरम्भ करा के उसमेंसे प्रथ
म रुद्राध्याय पढाया गया था, और मेरे कुलमें शैवमत था उसीकी शिक्षा भी किया
करते थे। और पिता आदि लोग यह भी कहा करते थे कि पार्थिव पूजन अर्थात मट्टी
का लिङ्ग बनाके तू पूजा कर। [illegible]

[illegible] पिता का [illegible] और

... और माता मना किया करती थी कि यह प्रातःकाल भोज
न कर लेता है इससे पूजा नहीं हो सकेगी पिताजी हठ किया करते थे कि पूजा अवश्य क
रनी चाहिये क्योंकि कुलकी रीति है। तथा कुछ २ व्याकरणका विषय और वेदोंका पाठमा
त्र भी मुझको पढ़ाया करते थे। पिताजी अपने साथ मुझको जहां तहां [illegible]
मिलापोंमें लेजाया करते और यह भी कहा करते थे कि शिवकी उपासना सबसे श्रेष्ठ है।
इस प्रकार १४ चौदहवें वर्षकी अवस्थाके आरम्भ तक यजुर्वेदकी संहिता संपूर्ण और कु
छ अन्य वेदोंका भी पाठ पूरा होगया था। और शब्दरूपावली आदि छोटे २ व्याकरणके ग्रंथ
भी पूरे होगये थे। पिताजी जहां २ शिवपुराणआदिकी कथा होती थी वहां २ मुझको पास बैठा
कर सुनाया करते थे। और घरमें भिक्षाकी जीविका नहीं थी किन्तु जिमीदारी और लेनदेन
से जीविकाके प्रबन्ध करके सब काम चलाते थे। और मेरे पिताने माताके मनेकरने
पर भी पार्थिव पूजनका आरम्भ करादिया। जब शिवरात्रि आई तब १३ त्रयोदशीके दिन
कथाका माहात्म्य सुनाके शिवरात्रिके व्रत करनेका निश्चय करादिया। परन्तु माताने मने
भी किया कि इससे व्रत नहीं रहा जायगा तथापि पिताजीने व्रतका आरम्भ करादिया। औ
र जब १४ चतुर्दशीकी सांझ हुई तब बड़े २ वस्तीके रईस अपने पुत्रोंके सहित मन्दिरोंमें जागरण
करनेको गये वहां मैं भी अपने पिताके साथ गया और प्रथम प्रहरकी पूजा भी करी दूसरे
प्रहरकी पूजा करके पूजारि लोग बाहर निकलके सोगये। मैंने प्रथमसे सुन रक्खा था
कि सोनेसे शिवरात्रिका फल नहीं होता है। इसलिये अपनी आंखोंमें जलके छींटे [illegible] मारके जा
गता रहा और पिता भी सोगये तब मुझको शंका हुई कि जिसकी मैंने कथा सुनी थी वही

यह महादेव है वा अन्य कोई क्योंकि वह तो मनुष्यके माफक एक देवता है वह बै
ल पर चढ़ता, चलता फिरता खाता पीता त्रिशूल हाथमें रखता डमरू बजाता वर और
शाप देता और कैलाशका मालिक है इत्यादि प्रकार का महादेव कथामें सुना था, तब
पिताजीको जगाके मैंने पूछा कि यह कथाका महादेव है वा कोई दूसरा तब पिताने कहा कि
क्यों पूछता है। तब मैंने कहा कि कथाका महादेव तो चेतन है वह अपने ऊपर चूहोंको
क्यों चढ़ने देगा और इसके ऊपर तो चूहे फिरते हैं तब पिताजीने कहा कि कैलाश पर
जो महादेव रहते हैं उनकी मूर्ति बना और आवाहन करके पूजा किया करते हैं अब
कलियुगमें उस शिवका साक्षात् दर्शन नहीं होता। इसलिये पाषाणादिकी मूर्त्ति बना
के उन महादेवकी भावना रखकर पूजन करनेसे कैलाशका महादेव प्रसन्न होजाता

है। ऐसा सुनके मेरे मनमें भ्रम होगया कि इसमें कुछ गड़बड़ अवश्य है। और भूख
भी बहुत लग रही थी पिता से पूछा कि मैं घर को जाता हूँ। तब उन्होंने कहा कि सिपाही को
साथ लेके चला जा परन्तु भोजन कदाचित् मत करना। मैंने घर में आकर माता से कहा
कि मुझको भूख लगी है। माता ने कुछ मिठाई आदि दिया उसको खाकर १ एक बजे पर
सो गया। पिताजी प्रातःकाल रात्रि के भोजन को सुनके बहुत गुस्से हुए कि तैने बहुत बुरा
काम किया। तब मैंने पिता से कहा कि यह कथा का महादेव नहीं है इसकी पूजा मैं क्यों
करूँ। मन में तो श्रद्धा नहीं रही परन्तु ऊपर के मन पिताजी से कहा कि मुझको पढ़ने
से अवकाश नहीं मिलता कि मैं पूजा कर सकूं। तथा माता और चाचा आदि ने भी पिता को
समझाया इस कारण पिता भी शान्त हो गये कि अच्छी बात है पढ़ने दो। फिर निघण्टु
निरुक्त और पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों के पढ़ने की इच्छा करके आरम्भ करके पढ़ता
रहा और कर्मकाण्ड विषय भी पढ़ता रहा। मुझसे छोटी १ एक बहन फिर उससे
छोटा एक भाई फिर भी एक बहन और एक भाई अर्थात् दो बहन और दो भाई और
हुए थे तब तक मेरी १६ वर्ष की अवस्था हुई थी। पीछे मुझसे छोटी १४ वर्ष की जो बहन थी
उसको हैजा हुआ एक रात्रि में कि जिस समय नाच हो रहा था। नौकर ने खबर दी कि उसको
हैजा हुआ है। तब सब जने वहां से तत्काल आये और वैद्य आदि बुलाये औषधि भी की त
थापि चार घंटे में उस बहन का शरीर छूट गया सब लोग रोने लगे। परन्तु मेरे हृदय में ऐ
सा धक्का लगा और भय हुआ कि ऐसे ही मैं भी मर जाऊंगा शोचविचार में पड़ गया।
जितने जीव संसार में हैं उनमें से एक भी न बचेगा। इससे कुछ ऐसा उपाय करना

चाहिये कि जिससे यह दुःख छूटे और मुक्ति हो अर्थात् इसी समय से मेरे चित्त में वैरा
ग्य की जड़ पड़ गई। परन्तु यह विचार अपने मन में ही रक्खा किसी से कुछ भी न
कहा इतने में १९ वर्ष की जब अवस्था हुई तब जो मुझसे अति प्रेम करने वाले बड़े धर्मा
त्मा विद्वान् मेरे चाचा थे उनकी मृत्यु होने से अत्यन्त वैराग्य हुआ कि संसार में कुछ भी न
हीं परन्तु यह बात माता पिता से तो नहीं कही किन्तु अपने मित्रों से कहा कि मेरा मन गृहा
श्रम करना नहीं चाहता। उन्होंने माता पिता से कहा माता पिता ने विचारा कि इसका
विवाह शीघ्र कर देना चाहिये। जब मुझको मालूम पड़ा कि ये २० वीसवें वर्ष में ही वि
वाह कर देंगे तब मित्रों से कहा कि मेरे माता पिता को समझा दो अभी विवाह न करें।

तब उन्होंने एक वर्ष जैसे तैसे विवाह रोका तब तक २० वीसवां वर्ष पूरा हो गया।
तब मैंने पिताजी से कहा कि मुझे काशी में भेज दीजिये कि मैं व्याकरण ज्योतिष और वै
द्यक आदि ग्रन्थ पढ़ आऊं। तब माता पिता और कुटुम्ब के लोगोंने कहा कि हम काशी को
कभी न भेजेंगे जो कुछ पढ़ना हो सो यहीं पढ़ो। और अगली साल में तेरा विवाह भी हो
गा क्योंकि लड़की वाला नहीं मानता। और हमको अधिक पढ़ाके क्या करना है जितना प
ढ़ा है वही बहुत है। फिर मैंने पिता आदि से कहा कि मैं पढ़ कर आऊं तब विवाह होना ठीक है
तब माता भी विपरीत होगई कि हम कहीं नहीं भेजते और अभी विवाह करेंगे। तब मैंने
चाहा कि अब सामने रहना अच्छा नहीं। फिर तीन ३ कोश ग्राममें अपनी जिमीदारी
थी वहां एक अच्छा पण्डित तथा माता पिता की आज्ञा लेके वहां जाकर उस पण्डित के पास
में पढ़ने लगा। और वहां के लोगों से भी कहा कि मैं गृहाश्रम करना नहीं चाहता। फिर मा
ता पिता ने मुझे बुलाके विवाह की तैय्यारी करदी तब तक २१ इक्कीसवां वर्ष भी पूरा हो
गया। जब मैंने निश्चित जाना कि अब विवाह किये बिना कदाचित न छोड़ेंगे। फिर गु
पचुप संवत १९०३ के वर्ष में घर छोड़ के संध्या के समय भाग उठा, चार कोश पर ए
क ग्राम था वहां जाकर रात्रि को ठहर कर दूसरे दिन प्रहर रात्रि से उठके १५ कोश चला प
रन्तु प्रसिद्ध ग्राम सड़क और जानकारों के ग्रामों को छोड़के बीच २ में नित्य चलने का
प्रारम्भ किया। तीसरे दिन मैंने किसी राज पुरुष से सुना कि फलाने का लड़का घर छो
ड़कर चला गया उस को खोजने के लिये सवार और पैदल आदमी यहां तक आये थे।
जो मेरे पास थोड़े से रुपैये और अंगूठी आदि भूषण था वह सब पोपों ने ठग लिया। मुझसे कहा कि तुम
पक्के वैराग्यवान् तब होगे कि जब अपने पास की चीज सब पुण्य कर दो फिर उन लोगों

के कहने से मैंने जो कुछ था सब दे दिया। फिर लाला भगत की जगह जो कि सायले शहर में
है वहां बहुत साधुओं को सुनकर चला गया वहां एक ब्रह्मचारी मिला उसने मुझसे कहा कि
तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो जाओ उसने मुझको ब्रह्मचारी की दीक्षा दी और शुद्धचैत
न्य मेरा नाम रक्खा तथा काषाय वस्त्र भी करा दिये। जब मैं वहां से अहमदा
बाद के पास कोठ गांगड़ जो कि छोटासा राज्य है वहां आया तब मेरे गाम के पास का जा
न पहचान वाला एक वैरागी मिला उसने पूछा कि तुम यहां कहां से आये और कहां जा
या चाहते हो। तब मैंने उससे कहा कि घर से आया और कुछ देशभ्रमण किया चाहता
हूं। उसने कहा कि तुमने काषाय वस्त्र धारण करके क्या घर छोड़ दिया। मैंने कहा कि

हां मैंने घर छोड़ दिया और कार्त्तिकी के मेले पर सिद्धपुर को जाऊंगा। फिर मैं वहां से
चलकर सिद्धपुर में आके नीलकण्ठ महादेव की जगह में ठहरा कि जहां दण्डी स्वामी
और ब्रह्मचारी ठहर रहे थे। उनका सत्संग और जो २ कोई महात्मा वा पण्डित मेले में
सुन पड़ा उन सब के पास गया और उन से सत्संग किया। जो मुझ को कौठ गांगड़ में
वैरागी मिला था उसने मेरे पिता के पास पत्र भेजा कि तुम्हारा पुत्र ब्रह्मचारी हुआ काषा
य वस्त्र धारण किये मुझ को मिला और कार्त्तिकी के मेले में सिद्धपुर को गया। ऐसा सुन
के सिपाहियों के सहित पिताजी सिद्धपुर में आकर मेले में खोज कर पता लगा के जहां
पण्डितों के बीच में मैं बैठा था वहां पहुंच के मुझ से बोले कि तू हमारे कुल में कलंक लगा
ने वाला पैदा हुआ। जब मैंने पिताजी को देख और उठ के चरण स्पर्श किया और
नमस्कार करके बोला कि आप क्रोधित मत हूजिये मैं किसी आदमी के बहकाने से च
ला आया और मैंने बहुत सा दुःख पाया। अब मैं घर को आने वाला था। परन्तु अब आप आये
यह बहुत अच्छा हुआ कि अब मैं साथ २ घर को चलूंगा। तो भी क्रोध के मारे मे
रे गेरू के रंगे वस्त्र फाड़ के फेंक दिये और एक तूंबे को तोड़ और वहां भी बहुत कठिन बातें कहकर बोले कि तू
अपनी माता की हत्या किया चाहता है। मैंने कहा कि मैं अब घर को चलूंगा तो भी मेरे साथ
सिपाही कर दिये कि क्षण भर भी इसको अकेला मत छोड़ो और रसपर रात्रि को भी पहरा
रक्खो। परन्तु मैं भागने का उपाय देख रहा था। सो जब तीसरी रात के तीन बजे के पीछे पह
रे वाला बैठा २ सो गया उसी समय मैं लघुशंका का बहाना करके भागा। आधकोश पर
एक मन्दिर के शिखर की गुफा में एक वृक्ष के सहारे से चढ़ और जल का लोटा भर के छिपकर बैठ
रहा। जब चार बजे का अमल हुआ तब मैंने उन्हीं सिपाहियों में से एक सिपाही माली से

से मुझ को पूछता सुना तब मैं और भी छिप गया ऊपर बैठा सुनता रहा वे लोग ढूंढ़ के
चले गये मैं उसी मन्दिर की शिखर में दिनभर रहा जब अंधेरा हुआ तब उस पर से उतर सड़क को छो
ड़ के किसी से पूछ के दो कोश पर एक ग्राम था उस में ठहर के अहमदाबाद होता हुआ।
बड़ोदरे शहर में आकर ठहरा। वहां चेतन मठ में ब्रह्मानन्द आदि ब्रह्मचारी और संन्यासियों
से वेदान्त विषय की बहुत बातें कीं। और मैं ब्रह्म हूं अर्थात् जीव ब्रह्म एक है ऐसा निश्चय
उन ब्रह्मानन्दादि ने मुझ को करा दिया प्रथम वेदान्त पढ़ते समय भी कुछ २ निश्चय हो

गया था परन्तु वह ठीक दृढ़ हो गया कि मैं ब्रह्म हूं। फिर वहां बड़ोदे में एक बनारसी बाई वैरागी का स्थान सुन कर उस में जा के एक सच्चिदानन्द परमहंस से मैं टकर के अनेक प्रकार की शास्त्रविषयक बातें हुईं। फिर वहां सुना कि आजकल चाणोद कन्याली में बड़े २ संन्यासी ब्रह्मचारी और विद्वान् ब्राह्मण रहते हैं। वहां जाके दीक्षित और चिदाश्रमादि स्वामी ब्रह्मचारी और पण्डितों से अनेक विषयों का परस्पर संभाषण हुआ। फिर एक परमानन्द परमहंस से वेदान्तसार आर्य्य हरि मीडे तोटक वेदान्त परिभाषा आदि प्रकरणों का थोड़े महीनों में विचार कर लिया। उस समय ब्रह्मचर्य्यावस्था में कभी २ अपने हाथ से रसोई बनानी पड़ती थी इस कारण पढ़ने में विघ्न विचार के चाहा कि अब संन्यास ले लेना अच्छा है। फिर एक दक्षिणी पण्डित के द्वारा वहां जो दीक्षित स्वामी विद्वान् थे उनको कहलाया कि आप उस ब्रह्मचारी को संन्यास की दीक्षा दे दीजिये। क्योंकि मैं अपना ब्रह्मचारी का नाम भी बहुत प्रसिद्ध करना नहीं चाहता था क्योंकि घर का भय बड़ा था जो कि अब तक बना है। तब उन्होंने कहा कि उसकी अवस्था कम है इसलिये हम नहीं देते। इसके अनन्तर दो महीने के पीछे दक्षिण से एक दण्डी स्वामी और एक ब्रह्मचारी आके चाणोद से कुछ कम कोश भर मकान जो कि जंगल में था उस में ठहरे उनको सुन कर एक दक्षिणी वेदान्ती पण्डित और मैं दोनों उनके पास जाके शास्त्रविषयक संभाषण करते मालूम हुआ कि अच्छे विद्वान् हैं। और वे शृंगेरी मठ की ओर से आके द्वारिका की ओर को जाते थे उनका नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। उन से उस वेदान्ती के द्वारा कहलाया कि ये ब्रह्मचारी विद्या पढ़ा चाहते हैं। यह मैं ठीक जानता हूं कि किसी प्रकार का अवगुण इन में नहीं है इनको आप संन्यास दे दीजिये संन्यास लेने का इनका प्रयोजन यही है कि निर्विघ्न विद्या का अभ्यास कर सकें। तब उन्होंने कहा कि किसी गुजराती स्वामी से कहो क्योंकि हम तो महाराष्ट्र हैं। तब उन से कहा कि दक्षिणी स्वामी गौड़ों को भी संन्यास देते हैं तो यह ब्रह्मचारी तो पंच द्राविड़ है इस में क्या चिन्ता है। तब उन्होंने

मान लिया और उसी ठिकाने तीसरे दिन संन्यास की दीक्षा दण्ड ग्रहण कराया और दयानन्द सरस्वती नाम रक्खा परन्तु मैं ने दण्ड का विसर्जन भी उन्हीं स्वामी जी के समक्ष मैंने

कर दिया क्योंकि दंड की भी बहुत सी क्रिया है कि जिससे पढ़ने में विघ्न हो सकता था। फिर वे
स्वामीजी द्वारिका की ओर चले गये। मैं कुछ दिन चाणोद कन्याली में रहके व्यासाश्र
म में एक योगानन्द स्वामी को सुना कि वे योगाभ्यास में अच्छे हैं उनके पास जाके योगा
भ्यास की क्रिया सीखके एक कृष्णशास्त्री छिनोर शहर के बाहर रहते थे उनको सुनके व्या
करण पढ़ने के लिये उनके पास गया और कुछ व्याकरण का अभ्यास करके फिर चाणो
द में आकर ठहरा वहां दो योगी मिले कि जिनका नाम ज्वालानन्दपुरी और शिवानन्दगिरि था
उनसे भी योगाभ्यास की बातें हुई और उन्होंने कहा कि तुम अहमदाबाद में आओ वहां हम
नदी के ऊपर दूधेश्वर महादेव में ठहरेंगे। वहां आवोगे तो योगाभ्यास की रीति सि
खलावेंगे। वहां से वे अहमदाबाद को चले गये फिर एक महीने के पीछे मैं भी अहमदाबा
द में जाके उनसे मिला और योगाभ्यास की रीति सीखी। फिर आबूराज पर्वत में यो
गियों को सुनके वहां जाके अर्बुदा भवानी आदि स्थानों में भवानीगिरि आदि योगियों
से मिलके कुछ और योगाभ्यास की रीति सीखके संवत १९११ के वर्ष के अन्त में हरद्वा
र के कुम्भ के मेले में आके बहुत साधु संन्यासियों से मिला और जब तक मेला रहा त
ब तक चण्डी के पहाड़ के जंगल में योगाभ्यास करता रहा। जब मेला हो चुका तब हृषी
केश में जाके संन्यासियों और योगियों से योग की रीति सीखता और सत्संग करता रहा॥

इसके आगे फिर लिखेंगे। दयानन्द सरस्वती

कर वहां से एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु मेरे साथ हुए हम सब जने टिहरी में आए वहां बहुत साधु और
राजपण्डितों से समागम हुआ। वहां एक पण्डित ने एक दिन मुझको और ब्रह्मचारी को अपने घर में भोजन
करने के लिये निमन्त्रण दिया। समय पर उसका एक मनुष्य बुलाने को आया तब मैं और ब्रह्मचारी उस
के घर भोजन करने को गये। जब उसके घर के द्वार में घुसकर देखा तो एक ब्राह्मण मांस को काटता था।

मांस, चमड़ा, और शिरादि के पीछे लेते। पंडित देख के बोला कि आइये। तब मैंने उनसे कहा कि आप अ
नाज का भोजन कीजिये। हम बाहर जाते हैं। ऐसा कह कर अपने स्थान पर चले आये। तब पण्डित जी हम को बु
लाने आया। उनसे मैंने कहा कि तुम सूखा अन्न भेज दो हमारा ब्रह्मचारी बना लेगा। पंडित बोले कि आप
देखिये तो सब पदार्थ बना रक्खे हैं। मैंने उनसे कहा कि आप के घर में मुझसे भोजन कदापि न किया जावेगा। क्योंकि
आप लोग मांसाहारी हैं। और मुझको मांस देख के घृणा आती है। फिर पण्डित ने अन्न भेज दिया। पीछे कुछ
कुछ दिन ठहर कर पण्डितों से पूछा कि इस पहाड़ देश में कौन २ शास्त्र के ग्रन्थ देखने को मिलते हैं। मैं बहुत दे
खना चाहता हूं। तब उन्होंने कहा कि व्याकरण, काव्य, कोष, ज्योतिष, और तन्त्र ग्रन्थ देखने
को मिलते हैं। तब मैंने कहा कि और ग्रन्थ तो मैंने देखे हैं परन्तु तन्त्र ग्रन्थ देखना चाहता हूं। तब उ
न्होंने छोटे बड़े ग्रन्थ मुझको दिये मैंने देखे तो बहुत भ्रष्टाचार की बातें उनमें देखीं कि माता, कन्या, भ
गिनी, चमारी, चाण्डाली, आदि से संगम करना, नग्न करके पूजना, मद्य, मांस, मच्छी, मुद्रा, अ
र्थात् ब्राह्मण से लेके चाण्डाल पर्यन्त एकत्र भोजन करना, और उक्त स्त्रियों से मैथुन करना इन पां
च मकारों से मुक्ति का होना आदि लेख उनमें देख के। चित्त को खेद हुआ कि जिन्होंने ये ग्रन्थ बनाये
वे कैसे नष्टबुद्धि थे। फिर वहां से श्रीनगर को जाके केदार घाट पर मन्दिर में ठहरे और वहां भी तन्त्र ग्र
न्थों का देखना और पंडितों से इस विषय में संवाद होता रहा। इतने में एक गंगागिरि साधु जो
कि सब दिन पहाड़ में ही रहता था उससे भेंट हुई और योग विषय में कुछ बातचीत होने से विदि
त हुआ कि यह साधु अच्छा है कई बार उससे बातें हुईं। मैंने उससे पूछा उसने उत्तर दिया उसने
मुझसे पूछा उसका उत्तर मैंने दिया। दोनों प्रसन्न होकर दो महीने तक वहां रहे। जब बर्षा ऋतु आ
ई तब आगे रुद्रप्रयागादि देखता हुआ अगस्त्य मुनि के स्थान पर पहुंच कर उसके उत्तर प
हाड़ पर एक शिवपुरी स्थान है वहां जाकर चार महीने निवास किया पीछे उन साधु और ब्रह्मचारी
को वहां छोड़ के अकेला केदार की ओर चलता हुआ गुप्तकाशी में पहुंचा। वहां कुछ दिन र
हकर वहां से आगे चल के त्रियुगीनारायण का स्थान और गौरीकुण्ड देखता हुआ भीमगुफा दे
ख कर थोड़े ही दिनों में केदार में पहुंच कर निवास किया वहां कई एक साधु पंडे और केदार के पूजा
री जङ्गम मत के थे उनसे समागम हुआ तब तक पांच छः दिन के पीछे वे साधु और ब्रह्मचारी भी

वहां आये वहां का सब चरित्र देख के मुझ को इच्छा हुई कि इन बर्फ के पहाड़ों में जा के कहीं … देखें कि कोई
महात्मा रहता है या नहीं परन्तु मार्ग कठिन और उन पहाड़ों में अति शीत होता है। वहां के निवासियों से भी पूछा कि
पहाड़ों में कोई साधु महात्मा रहता है या नहीं उन्होंने कहा कि कोई नहीं। फिर वहां २० दिन रह कर पीछे को अकेला
लौटा क्योंकि वह ब्रह्मचारी और साधु दो दिन रह कर शीत से घबरा के प्रथम ही चले गये थे फिर मैं वहां से चला

तुङ्गनाथ के पहाड़ पर चढ़ गया उस का मन्दिर पूजारी बहुत सी मूर्ति आदि बहुत से ब्राह्मण आदि देख कर उत
रा वहां से नीचे को उतरा बीच में से दो मार्ग थे एक पश्चिम को और एक पश्चिम और दक्षिण के बीच को
जाता था। तो जङ्गल की मार्ग था मैं उसमें चढ़ गया। आगे जाकर देखा तो जङ्गल पहाड़ और बिकट गहरे
नाला लगे हैं उसमें मार्ग बन्द हो रहा है। विचारा कि जो पहाड़ पर चढ़ें तो रात होगी और पहाड़ का मार्ग कठि
न है वहां पहुंच नहीं सकता ऐसा विचार उस नाले में बड़ी कठिनता से घास और वृक्षों को पकड़ के नीचे
के नाले के किनारे पर उतर कर देखा तो पहाड़ और जङ्गल है कहीं मार्ग नहीं। तब तक सूर्य अस्त होने
आया था विचारा कि जो रात हो जायगी तो यहां जल अग्नि कुछ भी नहीं है। फिर क्या करूंगा ऐसा विचार के
आगे को बढ़ा जङ्गल में चलते कांटे लगे और कांटे लगने से शरीर के वस्त्र फट गये। बड़ी कठिनता से
पहाड़ के पार उतर के सड़क मिली और अंधेरा हो गया। फिर सड़क पर चल के एक स्थान मिला वहां
लोगों से पूछा कि यह सड़क कहां को जाती है कहा कि ओखी मठ को। फिर वहां रात्रि को रह कर क्रम से गुप्तका
शी आया वहां थोड़े रह कर ओखी मठ में जाकर ठहरा देखा तो बहुत जोगी और पण्डा लोग बड़े जोगी
रहते थे वहां के महन्त ने कहा कि तुम हमारे चेले होओ और यहां रहो लाखों के कारखाने तुम्हारे हाथ होंगे
मेरे पीछे तुम्हीं महन्त होंगे। मैंने उनको उत्तर दिया कि सुनो ऐसी मेरी इच्छा होती तो अपने माता, पिता
बन्धु, कुटुम्ब, और घर आदि ही को क्यों छोड़ता। जो तुम्हारा स्थान और तुम मनुष्य ऐसा अधिक है
देखो। मैं ने जिस लिये सब छोड़े हैं वह बात तुम्हारे पास किञ्चित् मात्र भी नहीं है उन ने पूछा कि वह क्या
बात है। मैंने उत्तर दिया कि सत्य विद्या योग मुक्ति और अपने आत्मा की पवित्रता आदि गुणों
धर्मात्मता पूर्वक उन्नति करना है। तब महन्त ने कहा कि अच्छा तुम कुछ दिन यहां रहो मैं
उनको कुछ उत्तर न दिया और प्रातःकाल उठके मार्ग से चलके जोशी मठ को पहुंचे वहां
के दक्षिणी शास्त्री और संन्यासी थे उनसे मिलके वहां रहे॥

दयानन्दसरस्वती

The Autobiography

The Autobiography
of
SWAMI DAYANAND SARASWATI

It was in a Brahmin family of the Audichya caste in a town belonging to the Rajah of Morwee, in the province of Kathiawar, that in the year of Samvat, 1881, (1924 A. D.) I, now known as Dayanand Saraswati, was born. If I have from the first refrained from giving the names of my father and of the town in which my family resides, it is because I have been prevented from doing so by my duty. Had any of my relatives heard again of me, they would have sought me out. And then, once more face to face with them, it would have become incumbent upon me to follow them home. I would have to touch money again*, serve them, and attend to their wants. And thus the holy work of the Reform, to which I have wedded my whole life, would have irretrievably suffered through my forced withdrawal from it.

I was hardly five years of age when I began to study the Devanagari characters, and my parents and all the elders commenced training me in the ways and practices of my caste and family, making me learn by rote the long series of religious hymns, mantras, stanzas and commentaries. And I was but eight when I was invested with the sacred Brahmanical cord (triple thread), and taught Gayatri. Sandhya with its practices, and Yajur Veda Samhita preceded by the study of the Rudradhyaya.† As my family belonged to the Shiva sect, their greatest aim was to get me initiated into its religious mysteries, and thus I was early taught to worship the uncouth piece of clay representing Shiva's emblem, known as the Parthiva Lingam. But, as there is a good deal of fasting and various hardships connected with this worship, and I had the habit of taking early meals, my mother, fearing for my health, opposed my daily practising of it. But my father sternly insisted upon its necessity, and this question finally became a source of everlasting quarrles between them. Meanwhile, I studied the Sanskrit grammer, learned the Vedas by heart and, accompanied my father to the Shrines, temples, and places of Shiva worship His conversation ran invariably upon one topic, the highest devotion and reverence must be paid to Shiva, his worship being the most divine of all religions. It went on thus till I had reached my fourteenth year, when, having learned by heart the whole of the Yajur Veda

* No Swami or Sanyasi can touch money or personally transact monetary business. Ed. Theos.

† Astronomy includes Astrology in India, and it is in Benaras that the subtlest of metaphysics and so called occult science are taught.

Samhita, parts of the other Vedas, of the Shabda Roopavali and the grammar, my studies were completed.

As my father's was a banking house and he held, more over, the office-hereditary in my family of a Jamadar, we were far from being poor and things, so far, had gone very pleasantly. Wherever there was a Shiva puran to be read and explained, there my father was sure to take me along with him, and finally, unmindful of my mother's remonstrances, he imperatively demanded that I should begin practising Parthiva Puja. When the great day of gloom and fasting—called Shivaratree—had arrived, this day following on the 13th of Vadi of Magh. My father regardless of the protest that my strength might fail, commanded me to fast, adding that I had to be initiated on that night into the sacred legend, and participate in that night's long vigil in the temple of Shiva. Accordingly, I followed him, along with other young men, who accompanied their parents. This vigil is divided into four parts called praharas, consisting of three hours each. Having completed my task, namely, having sat up for the first two praharas till the hour of midnight, I remarked that the pujaris, or temple desservants, and some of the ley men devotees, after having left the inner temple had fallen asleep outside. Having been taught for years that by sleeping on that particular night, the worshipper, lost all the good effect of his devotion, I tried to refrain from drowsiness by bathing my eyes, now and then, with cold water. But my father was less fortunate. Unable to resist fatigue he was the first to fall asleep, leaving me to watch alone.

Thoughts upon thoughts crowded upon me, and one question arose after the other in my disturbed mind. Is it possible, I asked my self, that this semblance of man, the idol of a personal God, that I see bestriding his bull before me, and who, according to all religious accounts, walks about, eats, sleeps and drinks, who can hold a trident in his hand, beat upon his dumroo (drum), and pronounce curses upon men, is it possible that he can be the Mahadeva, the Great Deity, the same that is invoked as the Lord of Kailash, the Supreme Being and the Divine hero of all the stories we read of him in his puranas (Scriptures) ? Unable to resist such thoughts any longer, I awoke my father, abruptly asking him to enlighten me, to tell me whether this hideous emblem of Shiva in the temple was identical with the Mahadeva (Great God) of the Scriptures, or something else. "Why do you ask it ?" said my father. "Because", I answered, "I feel it impossible to reconcile the idea of an Omnipotent, living God, with this idol, which allows the mice to run over its body, and thus suffers its image to be polluted without the slightest protest". Then my father tried to explain to me that this stone representation of the Mahadeva of Kailash, having been consecrated by the holy Brahmins became, in consequence, the God himself, and is worshipped as such, adding that as Shiva cannot be perceived personally in this Kali-Yug the age of mental darkness, hence we have the idol in which the Mahadeva of Kailash is worshipped by his votaries; this kind of worship

is pleasing to the great Diety as much as if, instead of the emblem, he were there himself. But the explanation fell short of satisfying me. I could not, young as I was, help suspecting misinterpretation and sophistry in all this. Feeling fain with hunger and fatigue, I begged to be allowed to go home. My father consented to it, and sent me away with a Sepoy, only reiterating once more his command that I should not eat. But when once home, I had told my mother of my hunger, she fed me with sweetmeats, and I fell, into a profound sleep.

In the morning, when my father returned and learned that I had broken my fast, he felt very angry. He tried to impress me with the enormity of my sin; and do what he could, but I could not bring myself to believe that that idol and Mahadeva were one and the same God, and therefore, could not comprehend why I should be made to fast for, and worship, the former. I had, however, to conceal my lack of faith, and bring forward as an excuse for abstaining from regular worship, my ordinary study, which really left me little or rather no time for anything else. In this I was strongly supported by my mother, and even by my uncle, who pleaded my cause so well that my father had to yeild at last and allow me to devote my whole attention to my studies. In consequence of this, I extended them to "Nighantu", "Nirukta", "Purvamimansa", and other Shastras, as well as to "Karmakand" or the Ritual.

There were besides myself in the family two younger sisters and two brothers, the youngest of whom was born when I was already sixteen. On one memorable night, as we were attending a nautch festival at the house of a friend, a servant was despatched after us from home, with the terrible news that my sister, a girl of fourteen, had been just taken ill with a mortal disease. Not withstanding every medical assistance, my poor sister expired within four ghatikas* after we had returned. It was my first bereavement, and the shock my heart received was great. While friends and relatives were sobbing and lamenting around me, I stood like one petrified, and plunged in a profound reverie. It resulted in a series of long and sad meditations upon the instability of human life. 'Not one of the beings that ever lived in this world could escape the cold hand of death' I thought; I, too, may be snatched away at any time and die. Whether, then, shall I turn for an expedient to alleviate this human misery, connected with our death bed; where shall, I find the assurance of, and means of attaining Muktee, the final bliss ? It was there and then, that I came to the determination that I must find it, cost whatever it may. and thus save myself from the untold miseries of the dying moments of an unbeliever. The ultimate result of such meditations was to make me voilently break. and for ever, with the mummeries of external mortification and penances, and the more to appreciate the inward efforts of the soul. But I kept my determination secret, and allowed no one to fathom my innermost thoughts. I was

* About one and half an hour.

just eighteen then. Soon after, an uncle a very learned man and full of divine qualities, one who had shown for me the greatest tenderness, and whose favourite I had been from my birth expired also; his death leaving me in a state of utter dejection and with a still profounder conviction settled in my mind that there was nothing stable in this world, nothing worth living for or caring for in a worldly life.

Although I had never allowed my parents to perceive what was the real state of my mind, yet I had been imprudent enough to confess to some friend how repulsive seemed to me even the idea of a married life. This was reported to my parents, and they immediately determined that I should be betrothed at once and the marriage solemnity performed as soon as I should be twenty.

Having discovered their intention, I did my utmost to thwart their plans. I caused my friends to intercede on my behalf. and they pleaded my cause so earnestly with my father that he promised to postpone my betrothal till the end of that year. I then began entreating him to send me to Benaras, where I might complete my knowledge of Sanskrit grammar, and study astronomy and physics, until I had attained a full proficiency in these difficult sciences. But this time it was my mother who voilently opposed my wishes. She declared, that I should not go to Benaras, as whatever I might fell inclined to study, could be learnt at home as well as abroad; that I knew enough as it was and had to be married anyhow before the coming year; as young people through an excess of learning were apt to become too liberal and free sometimes in their ideas. I had no better success in that matter with my father. On the contrary, for no sooner had I reiterated the favour I begged of him, and asked that my betrothal should be postponed until I had returned from Benaras a scholar, proficient in arts and sciences, that my mother declared that in such a case she would not consent even to wait till the end of the year, but would see that my marriage was celebrated immediately. Perceiving at last, that my persistence only made things worse, I desisted and declared myself satisfied with being allowed to pursue my studies at home, provided I was allowed to go to an old friend, a learned pandit, who resided about six miles from our town in a village belonging, to our Jamadaree. Thither then, with my parent's sanction, I proceeded, and placing myself under his tution, continued for sometime queitly with my study. But while there, I was again forced into a confession of the insurmountable aversion I had for marriage. This went home again. I was summoned back at once, and found upon returning that everything had been prepared for my marriage ceremony, I had entered upon my twenty-first year, and had no more excuses to offer. I now fully realized that I would neither be allowed to pursue my studies any longer, nor would my parents ever make themselves consenting parties to my celibacy. It was when, driven to the last extremity that I resolved to place an eternal barrier between myself and marriage.

On an evening of the year Samavat 1903, without letting any one this time into my confidence, I secretly left my home, as I hoped, for ever. Passing that first night in the vicinity of a village about eight miles from my home, I arose three hours before dawn, and before night had again set in I had walked over thirty miles, carefully avoiding the public thoroughfare, villages, and localities, in which I might have been recognized. These precautions proved useful to me, as on the third day after I had absconded, I learned from a government officer that a large party of men, including many horsemen, were diligently roving about in search of a young man from the town of who had fled from his home. I hastened further on, to meet with other adventures. A party of begging Brahmins had kindly relieved me of all the money I had with me, and made me part even with my gold and silver ornaments, rings, bracelets and other jewels, on the plea that the more I gave away in charities, the more my selfdenial would benifit me in the after life. Thus, having parted with all I had, I hastened on to the place of residence of a learned scholar, a man named Lala Bhagat, of whom I had much heard on my way, from wandering Sannyasis and Bairagees (religious mendicants). He lived in the town of Sayale, where I met with a Brahmachari who advised me to join at once their holy order, which I did.

After initiating me into his order and conferring upon me the name of Shuddha Chaitanya, he made me exchage my clothes for the dresss worn by them—a reddish-yellow garment. From thence, and in this new attire, I proceeded to the small principality of Kouthkangda situated near Ahmedabad, where, to my misfortune, I met with a Bairagi, a resident of a village in the vicinity of my native town and who was well acquainted with my family. His astonishment was as great as my perplexity. Having naturally enquired how I came to be there, and in such an attire, and learned of my desire to travel and see the world, he ridiculed my dress and blamed me for leaving my home for such an object. In my embarrassment he succeeded in getting himself informed of my future intention. I told him of my desire to join in the Mella* of Kartik, which was to be held that year at Sidhpur, and that I was on my way to it. Having parted with him, I proceeded immediately to that place, and took my abode in the temple of Mahadeva at Neelkantha, where Dandi Swami and other Brahmacharis already resided. For a time, I enjoyed their society unmolsted, visiting a number of learned scholars and professors of divinity who had come to the Mella, and associating with a number of holy men.

Meanwhile, the Bairagi, whom I had met at Kouthakangda had proved treaeherous. He had despatched a letter to my family, informing them of my intentions, and pointing it to my where abouts. In consequence of this, my father had come down to Sidhpure with his Sepoys, traced me step by step in the Mella, learning something of me wherever I had sat among the

* Mela is a religious gathering, numbering at times hundreds or thousands of pilgrims.

learned pandits, and finally, one fine morning appeared suddenly before me. His wrath was terrible to behold. He reproached me voilently, accusing me of bringing an eternal disgrace upon his family. No sooner had I met his glance, though knowing well that there would be no use in trying to resist him, I suddenly made up my mind how to act. Falling at his feet with joined hands, I entreated him in supplicating tones to appease his anger. I had left the home through bad advice, I said; I felt misreable, and was just on the point of the returning home, when he had providetially arrived; and now I was willing to follow him home again. Notwithstanding such humility in a fit of rage he tore my yellow robe into shreds, snatched at my tumba,† and, wresting it violently from hand, flung it far away; pouring upon my head at the same time a volley of bitter reproaches and going so far as to call me a matricide.

Regardless of my promises to follow him, he gave me in the charge of his Sepoys, commanding them to watch me night and day, and never leave me out of their sight, for a moment.

But my determination was as firm as his own. I was bent on my purpose and closely watched for my opportunity of escaping. I found it on the same night. It was three in the morning, and the Sepoy, whose turn it was to watch me, believing me asleep fell asleep in his turn. All was still, and so, softly rising and taking along with me a tumba full of water, I crept out, and must have run over a mile before my absence was noticed. On my way it espied a large tree; whose branches were overhanging the roof of a pagoda; on it I eagerly climbed and hiding myself among its thick foliage upon the dome, awaited what fate had in store for me. About 4 in the morning, I heard and saw through the apertures of the dome, the Sepoys enquiring after me, and making a diligent search for me in side as well as out side the temple. I held my breath and remained motionless, until finally, believing they were on the wrong track, my pursuers reluctantly retired. Fearing a new encounter, I remained concealed on the dome the whole day, and it was not till darkness had again set in that, alighting, I fled in an opposite direction. More than ever I avoided the public throughfares, asking my way of people as rarely as I could, until I had again reached Ahmedabad, from whence I at once proceeded to Baroda. There I settled for some time; and at Chetan Math (Temple) I held several discourses with Brahmanand and a number of Brahmacharis and Sannyasis upon the Vedanta philosophy. It was Brahmanand and other holymen who established to my entire satisfaction that Brahm, the Deity, was no other than my own self, my Ego. I am Brahm, a portion of Brahm jiva (Soul) and Brahm, the Deity being one and the same. Formerly, while studying Vedanta, I had come to this opinion to a certain extent, but now the important problem was solved, and I gained the certainty that I was Brahm*.

† A vessel to hold water, made of a dried gourd.

* This passage is of such importance that the original is here by appended for the cosideration of the learned. Ed. Theos.

At Baroda learning from a Benares woman that a meeting composed of the most learned scholars was to be held at a certain locality, I repaired thither at once; visiting a personage known as Satchidanand Paramhansa, with whom I was permitted to discuss upon various scientific and metaphysical subjects. From him I learned also, that there were a number of great Sannyasis and Brahmcharis who resided at Chanoda Kanyali. In consequence of this, I repaired to that place of sanctity on the banks of Nerbuddhah and there at last met for the first time with real Dikshits or initiated Yogis, and such Sannyasis as Chidashrama and several other Brahmacharis. After some discussion, I was placed under the tution of one Parmanand Paramhansa and for several months studied "Vedantsar", "Arya Harimihir Totak" "Vedant Paribhasha", and other philosophical treatises. During this time, as a Brahmchari I had to prepare my own meals, which proved a great impediment to my studies. To, get rid of it I therefore concluded to enter if possible, into the 4th Order of the Sannyasis.† Fearing moreover to be known under my own name, on account of my family's pride and well aware that once received in this order I was safe, I begged of a Dekkani pandit, a friend of mine, to intercede on my behalf with a Deeksheet the most learned among them, that I might be initiated into that order at once. He refused however, point blank to initiate me, urging my extreme youth. But I did not despair. Several months later, two holymen, a Swami and a Brahmachari, came from the Dekan, and took up their abode in a solitary, ruined building in the midst of a jungle, near Chanoda and about two miles distant from us. Profoundly versed in the Vedant Philosophy, my friend, the Dekkaniy pandit,

† Sannyasa—There are different conditions and orders prescribed in the Sastras (1) Brahmchari—One who leads simply the life of celibacy, maintaining himself by begging while prosecuting his duties; (2) Grihasthashram—one who leads a married but a holy life. (3) Vanaprastha—who lives the life of a herhot. (4) Sannyasa or Chaturthashram. This is the highest of the four, in which the members of either of the other three may enter, the necessary conditions for it being the renunciation of all worldly considerations. Following are the four different successive stages of this life—(a) Kutichara—Living in a hut, or in a desolate place, and wearing a red-ocure coloured garment, carrying a three knotted bamboo rod, and wearing the hair in the centre of the Crown of the head, having the sacred thread, and devoting oneself to the contemplation of Parabrahma; (b) Bahudaka—one who lives quite apart from his family and the world, maintains himself on alms collected in seven houses, and wears the same kind of reddish garments. (c) Hansa—the same as in the preceding case except the carrying of only a one knotted bamboo; (d) Paramahansa—the same as others : but the ascetic wear the sacred thread, and his hair and beard are quite long. This is the highest of all these orders. A Paramahansa who shows himself worthy is on the very threshhold of becoming a Deekshit.

went to visit them, taking me along with him. A metaphysical discussion following brought them to recognize in each other Deeksheets of a vast learning. They informed us that they had arrived from "Shringeri Math", the principal convent of Shankara-charya, in the south, and were on their way to Dwarka. To one of them Poornanad Saraswati, I got my Dekkani friend to recommend me particularily, and state at the same time, the object I was so desirous to attain and my difficulties. He told him that I was a young Brahmachari, who was very desirous to pursue his study in metaphysics unimpeded; that I was quite free from any vice or bad habits for which fact he vouchsafed: and that, therefore he believed me worthy of being accepted in this highest probationary degree, and initiated me into the 4th order of the Sannyasis: adding that thus I might be materially helped to free myself from all worldly obligations, and proceed untrammelled in the course of my metaphysical studies. But this Swami also declined at first. I was too young, he said. Besides, he was himself a Maharashtrian, and so he advised me to appeal to a Gujrati Swami. It was only when fervently urged on by my friend, who reminded him that Dekkani Sannyasis can initiate even Gaudas, and that there could exist no such objection in my case, as I had been already accepted, and was one of the five Dravids, .that he consented.

And on the third day following he consecrated me into the order, delivering up to me a Dand* and naming me Dayanand Saraswati. By the order of my initiater though, and my proper desire, I had to lay aside the emblematical bamboo—the Dand, renouncing it for a while, as the ceremonial performances connected with it would only interefere with and impede progress of my studies.

After the ceremony of initiation was over they left us, and proceeded to Dwarka. For some time I lived at Chanoda Kanyali; as a simple Sannyasi. But upon hearing that at Vyasashram there lived a Swami whom they called Yoganand, a man thoroughly versed in Yoga†, to him I addressed myself as an humble student, and began learning from him the theory as well as some of the practical modes of the science of Yoga (or Yog Vidya). When my preliminary tuition was completed I proceeded to Chhinour, as on the out skirts of this town lived Krishna Shastree, under whose guidance I perfected myself in the Sanskrit grammar, and returned to Chanoda where I remained for some time longer. Meeting there to Yogees—Jwalanand Puri and Shivanand Giri, I practiced Yoga with them also and we all three held together

* The three and seved knotted bamboo of Sannyasis given to them as a sign of power, after their initiation.

† A religious "magician" practically. One who can embrace the past and the future in one present, a man who has reached the most prefect state of clairvoyance, and has a thorough knowledge of what is now known as mesmerism, and the occult properties of Nature, which sciences help the student to perform the greatest phenomena; such phenomena must not be confounded with miracles which are an absurdity.

many a dissertation upon the exalted science of Yoga, until finally, by their advice, a month after their departure, I went to meet them in the temple of Doodheshwar, near Ahmedabad, at which place they had promised to impart to me the final secrets and modes of attaining Yoga Vidya. They kept their promise, and it is to them that I am indebted for the acquirement of the practical portion of that great science. Still later, it was divulged to me that there were far higher and more learned Yogis than those, I had met yet still not the highest who resided on the peaks of the mountain of Aboo in Rajputana. Thither then, I travelled again, to visit such noted places of sanctity as the Arvada Bhawani and others; encountering, at last those whom I so eagerly sought for, on the peak of Bhawani Giree, and learning from them various other systems and modes of Yoga. It was in the year of samvat 1911, that I first joined in the Kumbha Mella at Hardwar, where so many sages and divine philosophers meet, often unperceived, together. So long as Mella congregation of pilgrims lasted, I kept practising that science in the solitude of the jungle of Chandee : and after the pilgrims had separated I transferred myself to Rishikesh, where sometimes in the company of good and pure Yogees* and Sannyasis oftener alone, I continued in the study and the practice of Yoga.

After passing a certain time in solitude, on the Rishikesh, a Brahmchari and two mountain ascetics joined me, and we all three went to Tehri. The place was full of ascetics and Raj (Royal) pandits, so called on account of their great learning. One of them invited me to come and have dinner with him at his house. At the appointed hour he sent a man to conduct me safely to his place and both the Brahmchari and myself followed the messenger. But what was our dismay upon entering the house, to first see a Brahmin preparing and cutting meat, and then, proceeding further into the interior apartments, to find a large company of pandits seated with a pyramid of flesh, rumpsteaks and dressed up heads of animals before them. The master of the house cordially invited me in, but with a few breif words begging them to proceed with their good work and not to disturb themselves on my account, I left the house and returned to my own quarters. A few minutes later the meat eating pandit was at my side praying me to return and trying to excuse himself by saying that it was on my account that the sumptuous viands has been prepared. I then firmly declared to him that it was all useless. They were carnivorous, flesh eating men, and myself a strict vegetarian, who fell sickened at the very sight of meat. If he would insist upon providing me with food, he might do so by sending me a few provisions of grain and vegetables which my Brahmchari would prepare for me. This he promised to do, and then, very much confused retired.

Staying at Tehri for some time, I inquired of the same pandit about some books and learned treatises I wanted to get for my instruction; what books and manuscripts could be procured at that place and where. He

* One may be Yogee, and yet not a Deekshit, i. e,, not have received his final initiation into the mysteries of Yoga-Vidya.

mentioned some works on Sanskrit grammar, classics, lexicographies, books on astrology and the Tantras or ritualistics. Finding that the latter were the only ones unknown to me, I asked him to procure the same for me. There upon the learned man brought to me several works upon this subject. But no sooner had I opened them, then my eye fell upon such an amount of incredible obscenities, mistranslations, misinterpretations of text and absurdity, that I felt perfectly horrified. In this ritual, I found that incest was permitted with mothers, daughters and sisters (of the shoemaker's caste) : as well as among the Pariahs of the out castes and worship was performed in nude state. Spirituous liquors, fish and all kinds of animal food and Mudra* (exhibition of indecent images) were allowed from Brahmin down to Mang, and it was explicitly stated that all those five things of which the name commences with the nasalm as for instance Madya (intoxicating liquor), Meen (fish), Mans (flesh), Mudra, and Maithun (coition) were so many means for reaching mukti (salvation) !. By actually reading the whole contents of the Tantras I fully assured myself of the craft and viciousness of the authors of this disgusting literature which is regarded as religious. I left the place and went to Shreenagar.

Taking up my quarters at a temple, on Kedar Ghat, I used these Tantras as weapons against the local pandits, whenever, there was an opportunity for discussion. While there, I became acquainted with a Sadhoo named Ganga Giri, who by day never left his mountain where he resided in a jungle. Our acquaintance resulted in friendship as I Soon learned how entirely worthy he was of respect. While together, we discussed Yoga and other sacred subjects, and through close questioning and answering became fully and mutually satisfied that we were fit for each other. So attractive was

* The word Mudra has been variously understood and interpreted. It means the signer of a royal as well as of a religious personage: a ring seal with initials engraved upon it. But it is also understood in another sense, the pristine and esoteric. Bhuchari, Chachari, Khechari and Charachari and Agochari—these five were the Mudras practised by the Aryas to qualify themselves for Yoga. They are the initiative stages to the dfficult system of Raja-Yoga, preliminaries of Dhauti pauti. the early discipline of Hatha-Yoga. The Mudra is a quite distinct and independent course of Yoga training, the completion of which helps the candidate to attain Anima, Laghima and Garima. For the meaning of these Siddhis, see article on Yoga Vidya in the November number of the Theosophist (1879). The sense of this holy word once perverted, the ignorant Brahmins debased it to imply the pictorial representation of the emblems of their deities, and to signify the marks of those sexual emblems daubed upon their bodies with Gopi-chandan made of the whitish clay of the rivers held sacred. The Vaisnavas debase the mark and the word less than the

applying it to the obscene gestures and the indecent exposures or their filty rituals have entirely degraded its Aryan meaning. Ed.

his society for me, that I stayed over two months with him. It was only at the expiration of this time, and when autumn was setting in, that I, with my companions, the Brahmchari and the two ascetics, left Kedar Ghat for other places. We visited Rudra Prayag and other cities, until we reached the shrine of Agasta Muni. Further to the North, there is a mountain peak known as the Shivapuri (town of Shiva) where I spent the four months of the cold season, when finally parting from the Brahmchari and the two ascetics, I proceeded, back to Kedar, this time alone and unimpeded in my intentions, and reached Gupta Kashee †

I stayed but a few days there, and went thence to the Triyugee Narayan* shrine, visiting on my way Gowree Kund tank and cave Bheemgupha. Returning in a few days to Kedar, my favourite place of residence, I there finally rested, a number of ascetic Brahmin worshippers called pandas, and the devotees of the Temple of Kedar, of the jangam sect, keeping me company until my previous companions, the Brahmachari, with his two ascetics, returned. I closely watched their ceremonies and doings, and observed all that was going on with a determined object of learning all that was to be known about these sects.

But once that my object was fulfilld, I felt a strong desire to visit the surrounding mountains, with their eternal ice and glacies, in quest of those true ascetics I have heard of, but as yet had never met them I was determined, come what might, to ascertain whether some of them did or did not live there as rumoured. But the tremendous difficulties of this mountanious journey, and the excessive cold forced me, unhappily, to first make inquiries among the hill-tribes and learn what they knew of such men. Every where I encountered either a profound ignorance upon the subject or a ridiculous superstition. Having wandered in vain for about twenty days, disheartened, I retraced my steps, as lonely as before, my companions who had at first accompanied me, having left me two days after we had started through dread of the great cold. I then ascended the Tunganath Peak ‡ There, I found a temple full of idols and officiating priests, and hastened to descened the peak on the same day. Before me were two paths, one leading West and the other South-West. I chose atrandom that which led towards the jungle; and ascended it. Soon after, the path led me into a dense jungle with rugged rocks dried up waterless brooks. The path stopped abruptly there. Seeing myself thus arrested, I had to make my choice to either climb

† Gupta Kashee—Gupta Secret, hidden, Kasi, the ancient name of Benaras, is a holy place enshorded in mystery. It is about 50 miles from Badrinath. Ed.

* Three Yugas or the Three Epochs.

‡ ... right bank of the Bisenganga,

‡ At Badrinath (Northern India) on the right bank of the ... where the celebrated temple or Visnu, with hot mineral springs in it, annually attracts numerous pilgrims.

up still higher or descend. Reflecting what a height there was to the summit, the tremendous difficulties of climbing that rough and steep hill, and that the night would come before I could ascend it, I concluded that to reach the summit that night was an impossibility. With much difficulty, however, catching at the grass and the bushes, I succeded in attaining the higher bank of the Nala (the dry brook), and standing on a rock, surveyed the environs. I saw nothing but tormented hillocks, highland, and a dense pathless jungle covering the whole, where no man could pass. Meanwhile the sun was rapidly descending towards the horizon. Darkness would soon set in, and then, without water or any means for kindling a fire, what would be my position in the dreary solitude of that jungle !

By dint of tremendous exertion though, and after an acute suffering from thorns, which tore my cloths to shreds, wounded my whole body, and lamed my feet, I managed to cross the jungle, and at last reached the foot of the hill and found myself on the highway. All was to darkness around and over me and I had to pick my way at random, trying only to keep the road. Finally I reached a cluster of huts, and learning from the people that that road led to Okhee Math, I directed my steps towards that place, and passed the night there. In the morning, feeling sufficiently rested and refreshed I returned to the Gupt Kashee, from whence I started the next day, on my northward journey. But that journey attracted me, and soon again I repaired to Okhee Math, under the pretext of examining that hermitage and observing the way of living of its inmates. There I had time to examine at leisure the doings of that famous and rich monastery, so full of pious pretences and a show of asceticism. The high priest (or Chief Hermit), called Mahant, tried hard to include me to remain and live there with him, becoming his disciple. He even held before me the prospect, which he thought quite dazzling, of inherting some day his lacs of rupees, his splendour and power, and finally, succeeding him in his Mahantship or supreme rank. I frankly answered him that had I ever craved any such riches or glory, I would not have secretly left the house of my father which was not less sumptuous or attractive than his monastery, with all its riches. The object which induced me to do away with all these worldly blessing, I added, "I find you neither strive for, nor possess the knowledge of." He then enquired what was that object for which I so strived. "That object", I answered, "is the secret knowledge, the Vidya, or true erudition of a genuine Yoga the Mukti, which is reached only by the purity of one's soul, and certain attainments unattainable without it. Meanwhile, the performances of all the duties of man towards his fellow-men, and the elevation of humanity thereby". The Mahant remarked that it was very good, and asked me to remain with him for ...
But I kept silent ...

But I kept silent and returned no reply; ... with him for some time at least. for. Rising on the following morning very early, I left this rich dwelling and went to Joshee Math. There, in the company of Dakshanee or Maharastra Shastrees and Sannyasis, the true ascetics of the 4th Order, I rested for a while.

At Joshee Math I met many Yogis and learned ascetics and, in a series of discussions, learnt more about Yoga-Vidya, and parting with them, went to Badrinarayan. The learned Rawaljee was at that time the chief priest of that temple, and I lived with him a few days. We held discussions upon the Vedas, and the "Darshanas". Having enquired from him whether he knew of some genuine Yogi in the neighbourhood I learnt, to my great regret, that there were none there at the time, but that he had heard that they were in the habit of visiting his temple at times. Then I resolved to make a thorough search for them throughout the country and especially in the hills.

One morning at day break, I set out on my journey, when, following along the foot of the mountains, I at last reached the banks of the Alakhnanda river. I had no desire of crossing it, as I saw on its opposite bank the large village called "Mana". Keeping, therefore, still to the foot of the hills, I directed my steps towards the jungle, following the river course. The hills and the road itself were thickly covered with snow and, with the greatest difficulty, I succeeded in reaching that spot where the Alakhnanda is said to take its rise. But once there, finding myself surrounded by lofty hills, on all sides and being a stranger in the country, my progress, from that moment, was greatly retarded. Very soon, the road ceased abruptly and I found no vestige of even a path. I was thus at a loss what to do next, but I determined finally to cross the river and enquire for my way. I was poorly and thinly clad, and the cold was intense and soon became intolerable. Feeling hungry and thirsty, I tried to deceive my hunger by swallowing a piece of ice, but found no relief. I then began to ford the river. In some places it was very deep, in others shallow not deeper than a cubit but from eight to ten cubits wide. The river bed was covered with a small and fragmentary bits of ice which wounded and cut my naked feet to blood. Very luckily the cold had quite benumbed them, and even large bleeding racks left me insensible for a while. Slipping on the ice more than once, I lost my footing and came nearly falling down and thus frezzing to death on the spot. For, should I have found myself prostrated on the ice, I realized that, benumbed as I was all over, I would find it very difficult to rise again. However with great exertion, and after a terrible struggle, I managed to get safe enough on the other bank. Once there more dead than alive. I hastened to denude the whole upper part of my body; and, with all I had of clothes on me, to wrap my feet up to the knees and then exhausted, famished, unable to move, I stood waiting for help and knowing not whence it would come. At last throwing a last look around me, I espied two hillmen, who came up and

having greeted me with their "Kashissamba" invited me to follow them to their home, where I would find food. Learning my trouble, they, moreover, promised to guide me to "Sadpat" a very sacred place; but I refused their offers, for I could not walk notwithstanding their pressing invitation I remained firm and would not "take courage" and follow them as they wanted me; but after telling them that I would rather die, refused even to listen to

them. The idea had struck me that I had better return and prosecute my studies. The two men then left me and soon disappeared among the hills. Having rested, I proceeded on my way back. Stopping for a few minutes at Basudhara a sacred bathing place and passing by the neighbourhood of Managram, I reached Badrinarayan at 8 o'clock that evening. Upon seeing me, the Rawaljee and his companions were much astonished and enquired where I had been ever since the early morning. I then sincerely related to them all that had happened to me. That night after having restored my strength with a little food, I went to bed, but getting up early on the following morn, I took leave of the Rawaljee and set out on my journey back to Rampur. That evening, I reached the home of a hermit, a great ascetic, and passed the night at his place. That man had the reputation of one of the greatest sages living, and I had a long conversation with him upon religious subjects. More fortified than ever in my determination, I left him next morning, and after crossing hills, forest and having descended the Chilkia ghattee, I arrived at last at Rampur where I took up my quarters at the house of the celebrated Ramgiri, so famous for the holiness and purity of his life. I found him a man of extraordinary habits though he never slept, but used to pass whole nights in holding conversations—very loud sometimes, apparently with himself. Often, we heard a loud scream, then weeping, though there was no one in his room within. Extremely surprised, I questioned his disciples and pupils and learnt from them that such was his habit, though no one could tell me what it meant. Seeking an interview with him I learnt some time after, what it really was; and thus I was enable to get convinced that it was not true Yoga he practised but that he was only partially versed in it. It was not what I sought for.

Leaving him I went to Kashipur, and thence to Drona Sagar, where I passed the whole winter, Then again to Sambal through Moradabad, when, after crossing Garh Mukteshwar I found myself again on the banks of the Ganges. Besides other religious works, I had with me the "Shiva Sanhita" "Hat-pradipika", "Yoga-Bij" and "Gherand Sanhita", which I used to study during my travels. Some of these, books treated on the Nari chalan and Nari chakaras, (nervous system) giving very exhaustive descriptions of the same, which I could never grasp and which finally made me doubt as to the correctness of these works. I had been for some time trying to remove my doubts, but had found as yet no opportunity. One day, I chanced to meet a

...to meet a corpse floating down the river. There was the opportunity and it reminded with me to satisfy myself as to the correctness of the statements contained in the books about anatomy and man's inner organs. Ridding myself of the books which I laid near by, and taking off my clothes, I resolutely entered the river and soon brought the dead body out and laid it on the shore, I then proceeded to cut it open with a large knife in the best manner I could. I took out and examined the kamal (the heart) and cutting it from the navel to the ribs, and a portion of the head and neck, I carefully examined and compared them with the description

in the books. Finding they did not tally at all, I tore the books to pieces and threw them into the river after the corpse. From that time gradually I came to the conclusion that with the exception of the Vedas, Upanishadas, Patanjali and Sankhya, all other works upon science, Yoga were false, Having lingered for some time on the banks of the Ganges, I arrived next at Furrukhabad; when having passed Sringirampur I was just entering Cawnpur by the road east of the cantonment, the samavat year of 1912 (1855 A. C.) was completed.

During the following five months, I visted many a place beween Cawnpur and Allahabad. In the begining of Bhadrapad, I arrived at Mirzapur where I stopped for a month or so near the shrine of Vindyachal Asooljee, and arriving at Benaras in early part of Ashwin, I took my quarters in the cave (at the confluence of the Varuna and the Ganges) which then belonged to Bhumanand Saraswati. There, I met with Kakaram, Rajaram and other Shastrees, but stopped there only twelve days, and renewed my travels after what I sought for. It was at the shrine of Durga-Koh-o in Chandalgarh, where I passed ten days. I left off eating rice altogether and living but on milk. I gave myself up entirely to the study of Yoga which I practised night and day.

Unfortunately, I got this time into the habit of using bhang, a strong narcotic leaf, and at times felt quite intoxicated with its effect Once after leaving the temple, I came to a small village near Chandalgarh where by chance I met an attendant of mine former days. On the other side of the village, and at some distance from it stood a shivalaya (a temple of Shiva) whi her I proceeded to pass the night under its walks. While there under the influence of bhang, I fell fast asleep and dreamt that night a strange dream. I thought, I saw Mahadeo and his wife Parvati They were conversing together, and the subject of their talk was myself. Parvati was telling Mahadeo that I ought to get married, but the god did not agree with her She pointed to the bhang. This dream annoyed me a good deal when I awoke. It was raining and I took shelter in the verandah opposite the chief entrance to the temple, where stood the huge statue of the Bull-god Nandi. Placing my clothes and books on its back, I sat and meditated; when suddenly happening to throw a look inside the statue, which was empty, I saw a man concealed inside.

I extended my hand towards him, and must have terrified him, as jumping out of his hiding place, he took his heels in the direction of the village. Then I crept into the staue in my turn and slept there for the rest of the night. In the morning an old woman came and worshipped the Bullgod with myself inside. Later on, she returned with offerings of 'Gur' (molasses) and a pot of "Dahi" (curd milk) which, making puja to me (whom she evidently mistook for the god himself), she offered and desired me to accept and eat. I did not disabuse her, but, being hungry ate it all. The curd being very sour proved a good antidote for the bhang and dispelled the signs of intoxication, which relieved me very much.

After this adventure, I continued my journey towards the hills and that place where the Nerbuddah takes its rise. I never once asked my way, but went on travelling southward. Soon I found myself in a desolate spot covered thickly with jungles, with isolated huts appearing now and then among the bushes at irregular distances. At one of such places I drank a little milk and proceeded onward. But about half a mile farther I came to a dead stop. The road had abruptly disappeared and there remained but the choice of narrow paths leading, I knew not, where. I soon entered a dreary jungle of wild plum trees and very thick and huge grass with no signs of any path in it, when suddenly I was faced by a huge black bear. The beast growled ferociously, and rising on its hind legs, opened wide its mouth to devour me. I stood motionless for some time and then slowly raised my thin cage over him, and the bear ran away terrified. So loud was its roaring, that villagers whom I had just left, hearing it, ran to my assistane and soon appeared armed with large sticks and followed by their dogs. They tried hard to persuade me to return with them. If I proceeded any further, they said, I would have to encounter the greatest perils in the jungles which in those hills were the habitat of bears, buffalloes, elephants, tigers and other ferocious beasts. I asked them not to feel anxious for my safety, for I was protected, I was anxious to see the sources of the Nerbuddah and would not change my mind for fear of any peril. Then seeing that their warnings were useless, they left me after having made me accept a stick, I immediately threw away.

On that day I travelled with out stopping until it grew quite dusk. For many hours I had not perceived the slightest trace of human habitation around me, no villages in the far off, not even a solitary hut, or a human being. But what my eyes met the most was a number of trees, twisted and broken, which had been unprooted by the wild elephants, and fell by them to the ground, further on I found myself in a dense and impenetrable jungle of plum trees and other prickly a shrubs whence, at first I saw no means of extricating myself. However, partly crawling on the belly, partly creeping on my knees, I conqured this new obstacle and after paying a heavy tribute with pieces of my clothes and even my own skin, bleeding and exhausted I got out of it. It had grown quite

of it. It had grown quite dark by that time, but even this if it impeded did not arrest my progress onward, and I still proceeded, until I found myself entirely hemmed in by lofty rocks and hills thickly grown over with a dense, vegetation, but with evident signs of beings inhabited. Soon I perceived a few huts, surrounded by heaps of cowdung, a flock of goats grazing on the banks of a small stream of clear water and a few welcome lights glimmering between the crevices of the walls. Resolving to pass the night there, and go no further till the next morning, I took shelter at the foot of a large tree which overshadowed one of the huts. Having washed my bleeding feet, my face and hands in the stream, I had barley sat to tell my prayers, when I was suddenly disturbed in my meditations by the loud sounds of a tom-tom. Shortly after, I saw a procession of men, women and children, followed,

by their cows snd goats emerging from the huts and preparing for a night religious festival. Upon perceiving a stranger, they all gathering me, and an old man came enquiring from whence I had appeared. I told them I had come from Benaras, and was on my pilgrimage to the Nerbudda sources, after which answer they all left me to my prayers and went further on. But in about half hour, came one of their headmen accompanied by two hillmen and sat by my side. He came as a delegate to invite me to their huts. But, as before, I refused the offer (for they were idolators). He then ordered a large fire to be lit near me and appointed two men to watch over my safety the whole night. Learning that I used milk for all food, the kind headmen asked for my "kamandalu" (a bowl) and brought it back to me full of milk of which I drank a little that night. He then retired, leaving me under the protection of my two guards. That night I soundly slept until dawn, when rising and having completed my devotions, I prepared myself for further events. (Here the autobiography ends. T.)